गीता गंगा मृतम

एस. एस. राजवत

चैतन्य प्रकाशन, लखनऊ

गीता गंगा मृतम

एस. एस. राजवत

चैतन्य प्रकाशन, लखनऊ

चैतन्य प्रकाशन
17, अशोक मार्ग,
लखनऊ – 226001

ISBN : 81-8001-006-6

संस्करण : प्रथम

वर्ष : 2004

मूल्य : 100.00 रुपये

कम्प्यूटर कम्पोजिंग : शील मिश्रा

मुद्रक : *पारिख आफसेट प्रिन्टिंग प्रेस,*
लखनऊ

GITA GANGA MRITAM

by S. S. Rajvat

विषय सूची

श्री गणेशाय नमः

"अहमेवास मेवाग्रे नान्यद यत सदसत परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम ॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेन न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनोमायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥"

"सृष्टि के पूर्व केवल मैं ही था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनों का कारण अज्ञान जहाँ यह सृष्टि नहीं है। वहाँ मैं-ही-मै हूँ। और इस सृष्टि के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बच रहेगा वह भी मैं ही हूँ। वास्तव में न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मा में दो चन्द्रमाओं की तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है। अथवा विद्यमान होने पर भी आकाश मण्डल के नक्षत्रों में राहु की भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी ही माया समझनी चाहिए।"

प्राक्कथन

श्रीमद्भागवत गीता साक्षात् भगवान् का स्वरूप है। मुझे यह लिखते हुए जरा भी अतिशयोक्ति नहीं महसूस हो रही है। इसी कारण समस्त मानव जाति इस पर आस्था रखते हुए श्रद्धापूर्वक इसका पूजन-आराधन, पठन-पाठन आदि किया करती है इसीलिए ऋषि, मुनि, योगियों से लेकर देवता भी इसके श्रवण मात्र के लिए आतुर रहते हैं व इसी पतित पावन गीता के द्वारा ही वे अपने कल्याण की आशा किया करते हैं।

सम्पूर्ण विश्व के धर्मों के दिशा बोध का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि विविध प्रकार की ध्वंसात्मक प्रक्रियाओं से उत्पन्न अमालिशा के गहन अंधकार के पीछे इस अद्वैत दर्शन और दृष्टि से सम्पन्न भागवत धर्म का सूर्य उगने को तैयार है। आज स्पष्ट रूप से समझ लिया गया है कि क्रिया प्रतिक्रिया, विश्लेषण और संश्लेषण संघर्ष और समिति के माध्यम से ही मानव जाति आज विकास के विशेष स्थान पर पहुँच सकी है और गति से अब वह प्रगति की ओर बढ़ रही है। सुख और दुःख इसी अबाध विकास की प्रक्रिया के अंग हैं। प्रश्न पग-पग पर उठता है सुख और दुःख से भरा, अंधकार और प्रकाश का यह खेल, गति-अगति और प्रगति से परिचालित इस जीवन का रहस्य क्या है? ध्येय क्या है? जिसका कि उत्तर है इन्हीं प्रकार की समस्त गतिविधियों के समन्वय का नाम ही तो जिन्दगी है।

श्रीमद्भागवत गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने जिज्ञासु कुन्तीपुत्र अर्जुन को अपने जीवन को सार्थक बनाने व कर्तव्यों के पालन हेतु सभी पहलुओं को निर्देशित किया है व धर्म और साधना का व्यापक स्वरूप भी दिखाया है। और धर्म तो दर्शन व दृष्टि का समन्वय होता है। दर्शन के साथ दृष्टि भी जुडी होती है, वह एक जीवन पद्धति या जीवन जीने की कला है। यह दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध हो सके इसलिए भारतीय दर्शन समय-समय पर विशिष्ट प्रगतिशील पद्धतियों और प्रक्रियाओं का भी प्रणयन करता रहा है जिसे हम धर्म साधना या अध्यात्म विद्या कहते हैं। इन अर्थों में तो यह प्रयोग सिद्धान्त जो कि आधुनिक परिभाषा के

अनुसार विज्ञान भी कहा जाने योग्य है।

गीता का यह मनुष्य न हिंदू है न मुसलमान न ईसाई, सिख, पारसी या यहूदी। वह एक है, वह जिस रूप में अपने आराध्य देव को जिस प्रकार मानता है वह उसको उसी प्रकार से मिलकर यथोचित कल्याण करते हैं। मनुष्य ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसका धर्म है मानव धर्म, भागवत धर्म उसका धर्म साधना है परोपकार है, कर्तव्यों का पालन व अपने लक्ष्य के प्रति पूरी सजगता है।

जो प्राचीनकाल से लेकर आज तक हमारे समाज को संरक्षित व दिशा निर्दिष्ट करती आयी है, जिसके मात्र नाम लेने से ही अनेक महापापों से छुटकारा मिल जाता है, जो पूरे विश्व का एकमात्र सार है। इस प्रकार से यह 'श्रीमद्भागवत गीता' महर्षि वेदव्यास जी द्वारा रचित अतुलनीय है। इसकी रचना के बाद स्वय महर्षि जी ने भी कहा था– कि यह मनुष्य मात्र की प्रेरणा के लिए ही नहीं वरन् समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त देवादि देवों के भी कल्याण का एकमात्र साधन है। यह पतित पावन माँ गंगा की तरह पवित्र, अविरल व सुरम्य है तो ऐसी श्रीमद्भागवत गीता की महिमा से भला कौन इंकार कर सकता है। माँ गंगा भी हमारी सांस्कृतिक धरोहरों में सर्वश्रेष्ठ है, जो कि भगवान् ब्रह्मा के अद्वितीय स्वर्गस्थल से आकर इस भू–धरा को शोभित करने में राजा भगीरथ के अथक परिश्रम व अदम्य साहस का ही परिणाम है। इससे लोगों को नया जीवन मिलता है व इसी के द्वारा ही राजा भगीरथ ने अपने पूर्वजों का उद्धार भी किया जिसका अनुसरण आज भी होता चला आ रहा है। यही नही, माँ गंगा के पवित्र जल के बिना हमारे अनुष्ठानों व यज्ञो की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसका कि वर्णन प्रसिद्ध साहित्यकार पण्डित जगन्नाथ ने अपनी पुस्तक 'गंगा लहरी' मे इस प्रकार भी किया है।

अनाथः स्नेहार्द्रां विगलित गतिः पुण्यगतिदां,
पतन् विश्वोर्द्धत्रीगत विगलितः सिद्धभिषजम् ॥
सुधा सिंधु तृष्णा कुलित ह्रदयो मातरमय,
शिशुः सप्राप्तस्त्वा यहमिह विदग्धाः समुचितम् ॥

इस प्रकार हमारे समाज में माँ गंगा का अत्यन्त विशेष महत्त्व है जिसके जल के स्पर्श मात्र से समस्त पाप धुल जाते हो। जो सभी के द्वारा पूजनीय हो। लेकिन आज उसी माँ गंगा की तरफ ध्यान आकृष्ट करने से उस पर व्याप्त प्रदूषण की अवहेलना नहीं कर सकते। यही नहीं हमारा ध्यान बरबस ही इस विश्वव्यापी

प्रदूषण की ओर भी जाना चाहिए। दिनोंदिन औद्योगिकता के विकास के चरम पर बढता यह मानव माँ गंगा को कलुषित करने में कोई कसर नहीं छोड़ना चाहता। बात यहीं पर खत्म नहीं उसने अपने स्वार्थ हेतु सभी क्षेत्रों में पर्यावरण के साथ छेडछाड़ कर पारिस्थितिकी को भी विकृत किया है। अर्थात् वह जिस डाल पर बैठा हुआ है उसी को काट देना चाहता है। क्या यह उचित है? क्या आप अपनी भावी पीढ़ी को उपहार स्वरूप यह सर्वव्यापी प्रदूषण ही देना चाहते हैं जिसके कि भयकर दुष्परिणाम अभी से ही दृष्टिगोचर होने लगे हैं। कृपया इस बारे मे एक बार, सिर्फ एक बार ही सोचकर देखिए!

मेरा श्रीमद्भागवत गीता को गंगा को जोड़ने का मुख्य मात्र अभिप्राय भी यही कि शायद मैं इसी के द्वारा समस्त जनमानस में इस विश्वव्यापी प्रदूषण व अपनी सांस्कृतिक धरोहरों के बारे में जागृति पहुँचा सकूँ, तथा साथ ही साथ लोगों की आस्तिक प्रवृत्ति भी प्रबल हो सके। इसलिए हमें हमारे पूर्वजों से विरासत मे हमारे जीवन का जो ध्येय मिला है वह है अध्यात्म, सांस्कृतिकता, हमें उसे ही सरक्षित और संग्रहीत करके शक्ति यंत्र के माध्यम से संपूर्ण विश्व में विकीर्ण करके मानवता का प्रदर्शन करना ही है यही मानव का परम धर्म भी है। और अंत में जीवन मे व्याप्त हर पल सभी कुछ, मात्र भगवत्कृपा का ही कारण है बाकी तो सब निमित्त मात्र...........

पहला अध्याय

अर्जुन विषाद योग

पांडवों के द्युत-क्रीडा में अपना सर्वस्य हार जाने के बाद भी
व योग-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के रोकने पर भी।
दुर्योधन अपनी ही बात पर था हठी अटल
होगा युद्ध अवश्यंभावी चलो अभी युद्धस्थल।
जब दोनो ही सेनाएँ आमने सामने आ डटीं
तब धृतराष्ट्र की भी आकांक्षा युद्धस्थल पर जाने की हुयी।
अपनी इस भावना को उन्होंने महर्षि वेद व्यास के समक्ष रखा
लेकिन वेद व्यास ने धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहा।
हे वत्स! तुम नेत्रहीन होने के कारण युद्ध स्थल का दृश्य कैसे देख पाओगे
वहाँ हो रहा होगा क्या तुम उसे क्या समझ पाओगे।
परंतु धृतराष्ट्र की आकांक्षा कम नहीं हुयी
यदि देख नहीं मैं सकता तो सुनने में है क्या बुराई।
व्यास जी ने कहा वत्स मात्र युद्ध वर्णन सुनने के लिए
तुम्हें इतना परिश्रम नहीं करना चाहिए।
इस कार्य के लिए तो सिर्फ तुम्हें
अपने सारथी व परम मित्र संजय की सहायता लेनी चाहिए।
इतना सुनकर संजय हतप्रभ हो गया
बोला कि मुनिश्वर यह कैसे संभव है भला।
मैं तो हस्तिनापुर में और युद्ध तो कुरुक्षेत्र में होगा
अब आप ही बताइये तात इसमें आपकी मैं क्या मदद कर पाऊँगा।
संजय को आश्वस्त करते हुए वेद व्यास जी बोले
वत्स तुम चिंतित न हो हम तुम्हें दिव्य चक्षु देंगे।
जिसके द्वारा तुम [illegible] में ही बैठकर युद्धस्थली को देख सकोगे

वहाँ घटित हो रहा है क्या-क्या यह जानकारी राजन को दे सकोगे।
ऋषिवर ने संजय को दिव्य चक्षु प्रदान कर दिया
वे जा रहे थे इसलिए सभी ने उनका आशीष लिया।
अब धृतराष्ट्र बोले हे संजय मुझे धर्मयुद्ध के बारे मे कुछ बताओ
क्या कर रहे हैं मेरे व पाडु के पुत्र मुझे सुनाओ।
सजय ने युद्ध भूमि का वर्णन करते हुए कहा
हे महाराज! सुनिये मैं सब कुछ देखकर आपको बता हूँ रहा।
आपके पुत्र दुर्योधन पांडवो की सेना को देखकर
व पांडवों की सेना की व्यूहात्मक स्थिति भांपकर।
गुरुदेव द्रोणाचार्य के निकट चले गये हैं
बोले आचार्य आप अपने शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा रचित सेना को देख रहे
पांडवो की इस व्यूहाकृत सेना पर दृष्टि डालिए
सभी चेहरों पर हैं लकीरें भय की स्वयं देखिए।
हाँ उनकी सेना में महाबली भीम, धनुर्धर अर्जुन, विराट नरेश हैं बोले
साथ में सात्यकि, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान आदि प्रतापशाली
इसके अलावा पुरुजित, कुंतीभोज, युधामन्यु, उत्तमौजा सौभद्र भी है
जिनके साथ अभिमन्यु व द्रौपदी के पाँचों पुत्र भी सम्मिलित हैं।
दुर्योधन गरजकर बोले हे द्रोण, इधर हमारी सेना में आप तो स्वयं है ही
इसके अतिरिक्त पितामह भीष्म, मेरा मित्र कर्ण व कृपाचार्य का साथ भी
भूरिश्रवा, अश्वत्थामा, विकर्ण, प्रवीण के होते हुए क्या बात है
इसके अलावा भी हमारे पास कुशल अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित सेना भी
हे आचार्य इधर हमारी सेना भीष्म द्वारा रक्षित होने से अजेय है
उधर पांडव सेना का रक्षक है जिससे उसकी सुनिश्चित पराजेय है।
तदोपरांत दुर्योधन ने अपने योद्धाओं से अपने-अपने मोर्चे बाँधकर
भीष्म पितामह की रक्षा करने का निर्देश दिया।
द्रोणाचार्य को संबोधित दुर्योधन के वचनों को सुनकर
भीष्म ने सभी के उत्साह को बढ़ाने के वास्ते तीव्र स्वर में शंखनाद किए
अब समस्त कौरव सेना में हर्ष की लहर दौड गई है
देखते ही देखते शंख, मृदंग, आदि वाद्ययंत्रों की आवाजें और तीव्र हो ग
इन सबका समवेतस्वर किसी को भी भयभीत कर देने वाला था

जो कि पृथ्वी के समस्त अस्तित्व को झकझोरने वाला था।
सजय बोला हे हस्तिनापुर नरेश! अब मैं पांडव सेना का वर्णन करता हूँ
श्वेताश्वों से युक्त श्रेष्ठ रथ आसीन श्रीकृष्ण व अर्जुन के बारे में कहता हूं
कौरवों के शंखनाद के पश्चात् पांडवों ने भी शंखों का उद्घोष किया
श्रीकृष्ण व अर्जुन ने क्रमशः अपने पाञ्चजन्य व देवदत्त शंख से नाद कि
इसी तरह भीम ने पौंड्र, युधिष्ठिर ने अनंत विजय, सहदेव ने मणिपुष्पक
व नकुल ने सुघोष नामक शंख से नाद किया।
इन सबके शंखनाद के पश्चात् धनुर्धर काशीराज व अभिमन्यु समेत,
सभी वीरों ने भी अपने-अपने शंखों से वायुमण्डल को गर्जित किया।
इन सभी ध्वनियों से मन भयकंपित हो गया
ऐसा लग रहा था मानो आकाश से पृथ्वी तक सब कुछ हिल गया।
इस गर्जना से शत्रु सेना के हृदय विदीर्ण हो गये
उन सभी के चेहरे भय से कंपित हो गये।
तदोपरांत अर्जुन ने अपने रथ पर ही खड़े होकर
विचलित मन से धृतराष्ट्र पुत्रों की ओर देखकर।
बोले हे अच्युत! मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य खडा कीजिए
किन रणबांकुरों से मुझे करना है युद्ध उन्हें हमें दिखाइये।
मै उन सभी लोगों को देखूँगा
जिनके साथ कि मुझे युद्ध करना क्या शोभित होगा।
कौन से लोग उसका मंगल चाहने के लिए उसके साथ हैं
वह दुष्टबुद्धि दुर्योधन युद्ध पर है उतारू कैसी यह बात है।
सजय बोला, हे महाराज! इस प्रकार अर्जुन के कहने पर
श्रीकृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य लाकर खडे हुए।
जहाँ से अर्जुन ने भीष्म, द्रोणाचार्य, दुर्योधन, अश्वत्थामा
आदि को देखकर मन ही मन स्वयं ही लज्जित हुए।
तदोपरांत अर्जुन ने कहा हे अर्जुन सभी को भलीभाँति देख लो
अपने ही चाचाओं, आचार्यों, मामाओं व भाइयों संग करना है युद्ध जान ल
यह सब देखकर उसका हृदय विषाद से भर गया
बोला विह्वल होकर श्रीकृष्ण से कि मैं अब शिथिल हो गया।
अपने आत्मीयजनों के समक्ष मैं हथियार नहीं उठा सकता

मेरा मुख है शुष्क हो रहा अपने शारीरिक कम्पन को बता नही
मेरा गांडीव मेरे हाँथ से छूटकर मेरी त्वचा तप्त हो रही है
मेरी बुद्धि भी आज स्थिति को नियंत्रित नहीं कर पा रही है।
मुझे सभी कुछ प्रतिकूल दिखायी दे रहा है
इस तरह से मैं अपने स्वजनों का वध क्यों करने जा रहा हूँ।
हे कृष्ण मैं अपने ही आत्मीयजनों संग युद्ध नहीं कर सकूँगा
स्वहित की प्राप्ति के लिए मैं ऐसा कभी नहीं कर सकूँगा।
हे गोविन्द जिन लोगों के लिए राज्य सुख, भोग आदि
प्राप्त करने के उद्देश्य से युद्ध लडा जाना है।
वही जब इस युद्धस्थल में मुझे दृष्टिगोचर हो रहे हैं
तो ऐसे राज्य सुख, भोग प्राप्त करने से क्या होना है।
युद्धस्थल में तो मेरे सभी ताऊ, चाचा, साले कुटुंबीजन हैं
मेरे आचार्य व भाई, मामा, श्वसुर आदि भी उपस्थित हैं।
यदि ये लोग मेरा वध करना चाहें तब भी और तीनों लोकों के
राज्य की प्राप्ति के निमित्त भी मैं इनका वध नहीं करना चाहता
फिर इस तुच्छ भूमंडल की प्राप्ति के निमित्त
मुझे अपने सम्बन्धियों का वध असंभव है प्रतीत होता।
हे गोविन्द! धृतराष्ट्र के इन दुष्ट पुत्रों का वध करने से भी हमे
सुख लाभ की अपेक्षा आततताइयों के वध का दोष ही लगेगा।
यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्र दुष्ट बुद्धि हैं
तब भी इनके साथ युद्ध करना यह मुझसे न होगा।
कुटुम्बीजनों का वध करके हमें सुख की प्राप्ति कैसे होगी
राज्य के प्रलोभनवश इन लोगों की है बुद्धि भ्रमित लगती।
इसी से इन्हें कुलनाश या मित्र से छल का दोष प्रतीत नहीं हो
पर हमारी तो बुद्धि भ्रमित नहीं हमें तो दोषादि का विचार है स्प
हे यदुनंदन कुल के विनाश से कुल का सनातन धर्म नष्ट हो जा
सनातन धर्म नष्ट होने से तो कुल भी पापाश्रित हो जाता है।
हे कृष्ण! पाप की अभिवृद्धि से कुल की स्त्रियाँ मार्गच्युत हो जा
और कुल की स्त्रियाँ मार्गच्युत हो जाने से वर्ण संकर संतति उत्पन
ऐसी वर्णसंकर संतति ही कुल को नरक में ले जाती है

तथा श्राद्ध-तर्पणादि क्रियाओं का लोप होने से पितरों की अधोगति होती है।
वर्ण संकरता से कुल धर्म के साथ-साथ जाति धर्म का भी विनाश होता है
अतैव जिनके कुल का धर्म नाश हो जाता है वह सिर्फ नर्क ही भोगता है।
यह कितनी दुःखपूर्ण बात है कि बुद्धिमान होते हुए भी हम
राज्य व प्रलोभनवश अपने ही कुल के विनाश की ओर उन्मुख हुए।
इससे तो ठीक है यदि धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ शस्त्रहीन का
युद्ध में ही वध कर दें तो हम तो समझेंगे कि हम जीत गये।
संजय बोला, हे महाराज! इस प्रकार युद्धभूमि में शोक विह्ल होकर अर्जुन
धनुष को छोड़कर रथ के पार्श्व में बैठ गया।

दूसरा अध्याय
सांख्य योग

सजय बोला, हे कौरव कुल शिरोमणि!
विषादयुक्त अश्रुपूरित नयन वाले दयार्द्र अर्जुन से।
भगवान् मधुसूदन ने इस प्रकार कहा--
हे अर्जुन! जब सभी लोग युद्धभूमि में युद्ध के लिए तत्पर हैं
तो तुम भी अब अज्ञान हो क्या
वीर पुरुष के लिए इस प्रकार की अज्ञानता सोचनीय है।
इससे न यशस्विता और न ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है।
अतः हे कौन्तेय! तुम कायरता का प्रदर्शन न करो
यदि वीर हो तो उठो और वीरों का आचरण करो।
अपने मन से इस दुर्बल भाव का परित्याग कर दो
युद्ध के लिए डर जाओ सारी मोह माया छोड़ दो।
श्रीकृष्ण के मुख से ऐसे वचनों को सुनकर
अर्जुन बोले भीष्म और द्रोण तो हैं मेरे प्रियवर।
इन पर मैं कैसे बाणो की वर्षा कर सकता हूँ
इन्हें मैं तड़पता कैसे देख सकता हूँ।
इनका वध करके मुझे राज्योचित सुख भी यदि मिलेगा
वह इनके रक्त से रंजित होने के कारण मेरे लिए कल्याणकार
गुरुवध के पाप से तो अच्छा भिक्षा के अन्न से ही निर्वाह कर
मुझे तो यह भी नहीं मालूम हे श्रीकृष्ण कि क्या उचित या अ
और यह भी तो निश्चित नहीं कि हमें ही विजय प्राप्त हो जा
ऐसा भी तो हो सकता है कि हम पराजित ही हो जायें।
लेकिन इतना निश्चित है कि युद्ध के लिए लालायित
धृतराष्ट्र पुत्रों का वध करने से हमारा कोई कल्याण नहीं है।
हे कृष्ण! शिथिलतावश मेरी बुद्धि भी अब भ्रमित हो गयी है

मुझे तो अब धर्म-अधर्म का ज्ञान भी नही है।
अब क्या उचित है और क्या अनुचित इसका निर्णय मुझे बताएँ
आप मेरे गुरु हैं अतः आप शिष्य समझकर सुझाएँ।
वैसे यदि मैंने अपने ही सगे सम्बन्धियों को मार डाला
तो यदि मिले पृथ्वी का धन धान्य सम्पदा अकूत भी तो क्या फायदा।
अर्जुन श्रीकृष्ण से यह कहकर कि युद्ध नही करूँगा चुप हो गया
और अब शोक से व्याकुल अर्जुन को भगवान् ने यह उपदेश दिया।
हे अर्जुन तुम ऐसे लोगों के लिए व्यर्थ ही शोक करते
किसी के लिए भी नहीं शोक करना चाहिए क्या इतना भी नहीं जानते।
वैसे तुम तो विद्वजनों की तरह बोल रहे हो
फिर क्यो मोहमाया मे इस तरह घिर रहे हो।
और हाँ जो विद्वजन, कभी शोक करते नहीं हैं
क्योंकि आत्मा अमर अविनाशी है जिसके लिए शोक करना तर्कसंगत नहीं है।
जीवन तो जन्म मरण के मध्य की अवस्था मात्र है
जो आज है वह कल भी था मात्र यही समझने की बात है।
क्या किसी काल में तुम नहीं थे मै नहीं था अथवा ये लोग नहीं थे
क्या आने वाले समय में यह स्थिति नहीं रहेगी तुम इस जड देह मे भ्रमित हो रहे थे।
भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे अर्जुन जीवात्मा की ही देह मे अवस्थाएँ हैं
जैसे बचपन से मृत अवस्था वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है।
अर्थात् अवस्थाएँ ही स्थूल शरीर का विकार हैं
जिन्हें अज्ञानतावश आत्मा में समझना बेकार है।
एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रविष्ट सूक्ष्म शरीर का विकार है
जो आत्मा प्रतीत होता है इन सबके अतिरिक्त आत्मा सदैव अमर है।
तत्वज्ञ पुरुष इस बात को जानते हैं इसलिए शोक नहीं करते
फिर तुम क्यों इस बात को सोचकर नाहक ही परेशान हो होते ।
हे अर्जुन शीत, उष्ण, दुःख, सुख तो अनित्य है
ये आते भी है और चले भी जाते है।
तुम तो इन्द्रिय ज्ञानी हो अत हे अर्जुन
क्या तुम अपनी इन्द्रिय का दमन भी नहीं कर सकते।
इन्द्रियों का दमन व सुख दुःख मे समस्थिति में

काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से दूर रहते हुए।
रहने वाला पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी होता है
हे पार्थ! सुनो असत का अस्तित्व नहीं होता है।
और न ही सत्य का अभाव ही होता है
तत्त्वज्ञानी इस तथ्य को जानते है।
इस तरह जो सृष्टि मे व्याप्त अविनाशीं है इसे समझते है
इस अविनाशी का कभी भी और किसी भी काल में विनाश नही किया जा
यह देह तो नाशवान है इसे कभी भी खत्म किया जा सकता है
अत हे अर्जुन तुम उठो और युद्ध करो यह जानकर।
कि आत्मा है सर्वव्यापी अनत आकार रहित अजर और अमर।
हे पार्थ यह आत्मा न तो किसी के द्वारा मारा जाता है
और न ही किसी को मारता या नष्ट होता है।
जो पुरुष ऐसा भाव रखते हैं कि मैंने इसे मारा या उसने मुझे मारा
ऐसे पुरुष अज्ञानी ही कहलाते हैं उनका व्यर्थ है जीवन सारा।
आत्मा का न तो जन्म होता है और न ही पतन है
क्योकि आत्मा तो अजन्मा, नित्य, अविनाशी, शाश्वत और पुरातन है।
शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता
आत्मा मरण धर्म से पृथक् है मरण तो इस नाशवान शरीर का सिर्फ
हे कौन्तेय! जो पुरुष भला अक्षयात्मा से अनभिज्ञ हो सकता है
जो आत्मा के रहस्यों से अनजान है वह कैसे किसे मार सकता है।
शरीर के विछोह का शोक तत्त्वज्ञानी नहीं करता है
वह स्वयं को किसी के निर्देशन में निर्देशित समझता है।
क्योकि जैसे पुरुष पुराना वस्त्र त्याग कर नया वस्त्र धारण कर लेता
वैसे ही जीवात्मा भी पुराने शरीर का त्याग कर नया शरीर ग्रहण कर
आत्मा को न तो शस्त्रों से काटा जा सकता है न अग्नि इसे जला स
न यह जल मे गीला हो सकता है न वायु इसे सुखा सकती है।
क्योकि आत्मा अछेदनीय, अदाह्य, अक्लेद्य व अशोष्य है
यही कारण है कि यह न ही इन्द्रियों के विषय योग्य है।
हे महावाहो! जो जन्म लेता है उसका मरण अवश्य ही होता है
ऐसा जानकर तुम्हें शोक करना शोभनीय नहीं है।

जन्म और मरण के मध्य की अवस्था ही जीवन होता है
अत: इस विषय में शोक करना बिल्कुल ही उचित नहीं होता है।
भीष्म आदि के शरीर भी मायामय होने से हैं अनित्य
इनके मरण के शोक का हमें क्या आधिपत्य।
हे पार्थ! आत्म तत्त्व का विषय अत्यन्त ही गूढ़ होता है
इसका ज्ञान सिर्फ किसी-किसी महापुरुष को ही होता है।
ऐसा महापुरुष किसी तत्त्व जिज्ञासु को ही इसका ज्ञान कराता है
कुछ लोगों को इसके श्रवण करने के बाद भी उन्हें कुछ भी समझ में नहीं आता है।
हे अर्जुन! शरीरस्थ आत्मा सदैव अवधनीय है
इसलिए जीवों के निमित्त शोक करना उचित नहीं है।
हे अर्जुन तुम क्षत्रिय हो इसलिए क्षत्रियोचित धर्म का पालन करो
क्षत्रिय का कल्याण जब युद्ध कर्म से है तो क्यों न युद्ध करके वीरगति ही प्राप्त करो।
जो क्षत्रिय युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं
उनके लिए स्वर्ग के द्वार सदैव खुले रहते हैं।
अत: तुम युद्ध करो यदि तुम युद्ध नहीं करोगे
तो क्या अपने कर्तव्य से च्युत होकर कीर्ति को कलंकित करोगे।
तो फिर चिरकाल तक लोग तुम्हारी अकीर्ति का गान ही करेंगे
तुम जैसे वीर व साहसी, सम्माननीय व्यक्ति को भी कायर कहा करेंगे।
जो योद्धा तुम्हें महारथी के रूप में हैं देखते
वही तुम्हें युद्ध विमुखी कहेंगे जो तुम्हारे शत्रु वही तुम्हारी निंदा करेंगे।
इससे बड़ा दु:ख और क्या होगा
इसलिए हे अर्जुन युद्ध करना ही तुम्हारे लिए उचित होगा।
क्योंकि यदि युद्ध में तुम मर गये तो तुम्हें स्वर्ग का सुख मिलेगा
और यदि युद्ध में विजयश्री मिल गयी तो पृथ्वी का सुख तुम्हें मिलेगा।
अत: हे अर्जुन उठो और युद्ध करो तुम्हें कुछ नहीं होगा
यदि स्वर्ग, राज्य प्राप्ति की कामना न हो तो तुम्हें पाप कैसे लगेगा।
सुख दु:ख हानि लाभ जय पराजय को एक समान मानकर युद्ध करो
हे अर्जुन यही है तुम्हारा लक्ष्य तुम अपने आपको इसके लिए तैयार करो।
संजय बोला हे राजन श्रीकृष्ण ने शोक विह्वल अर्जुन को
ज्ञान योग का उपदेश देने के बाद कर्मयोग का उपदेश देते हुए इस प्रकार कहा।
अर्जुन! मैने अब तक तुम्हें ज्ञानयोग के विषय में बताया परतु

अब मैं तुम्हें निष्काम कर्मयोग के बारे में सुनो मैं सुनाता।
जो पुरुष कामना रहित होकर कर्म करता है
वह भवबधन से मुक्त हो जाता है।
अर्थात् जो मेरा भक्त मुझमें ही प्रीति रखकर सारे कर्मो को मुझे अर्पित करा देता है
ऐसे भक्त पुरुष का अवश्य ही उद्धार हो जाता है।
हे कौन्तेय! निष्काम कर्मयोग में बीज का नाश नही होता है
न ही तो इसमें फलदोष ही लगता है।
इसलिए तुम कर्म बधनों का क्षय करो
हे अर्जुन तुम मेरे प्रति गहन निष्ठा करके अपनी बुद्धि एक निश्चय करो।
ऐसे भक्त फिर कभी भ्रमित नही होते
जो पुरुष अज्ञानी हैं भ्रमित बुद्धि वाले वे ही कर्मफल की इच्छा से कर्म करते है।
अर्थात् जो सकामी पुरुष कर्मफल में निष्ठा रखकर देव देवताओं की भक्ति करते हे
और ऐसा करने के लिए अन्य पुरुषों को भी प्रेरित करते है।
उनके अंतःकरण मे निश्चित ही बुद्धि का अभाव रहता है
अतः तुम अपनी बुद्धि स्थिर रखो जिसे जमाना योग व क्षेम को चाहने वाला कहता है
जैसे परिपूर्ण जलाशय मिल जाने से मनुष्य अन्य जलाशयों की ओर नहीं उन्मुख होत
वैसे ही जिस पुरुष ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया उस वेदादि ग्रन्थों में रमने से क्या फायदा
अर्थात् परमानंद ब्रह्मज्ञान में ही है
अत. हे अर्जुन! तुम्हें त्रिगुणातीत आत्मा के सत्य रूप में प्रीति जोडना ही है।
जिस प्रकार आत्मसुख इन्द्रिय सुख से भिन्न दिखता है
उसी प्रकार आत्मा तो ब्रह्म सुख से जुडने पर ही परम सुख पाता है।
अतः हे पार्थ! आसक्ति व कर्मफल का त्याग कर
समत्व भाव में स्थित होना ही सुयोग है।
जो भी कर्म किया जाय उसके न पूरे होने या होने में समबुद्धि होना ही
समत्वभाव का बुद्धियोग है।
हे अर्जुन! तुम कर्मफल का त्याग कर बुद्धि योग का मार्ग अपनाओ।
समत्व बुद्धियोग होने से ही पाप पुण्यों का क्षय होकर भवबंधन से मुक्त हो जाव
अतः जब तुम्हारी बुद्धि मोहमुक्त होगी तभी वैराग्य वृत्ति उत्पन्न होगी
और परमात्मा में बुद्धि स्थिर होगी तभी समत्व योग या समाधि योग की प्राप्ति हो

■

तीसरा अध्याय
कर्मयोग

सजय ने धृतराष्ट्र के समक्ष युद्ध का वर्णन करते हुए कहा
अब इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने को कहा।
तब अर्जुन बोला हे श्रीकृष्ण एक ओर तो आप ज्ञान को श्रेष्ठ बता रहे हैं
दूसरी ओर मुझे युद्ध करने को कह रहे हैं इस तरह आप मुझे भ्रम में डाल रहे है।
क्यों मुझे कर्म बधन में बांधना चाहते हैं कहाँ ब्रह्मज्ञान और कहाँ युद्धकर्म
ये दोनों तो दो विपरीत दिशाएँ हैं इस पर मैं भ्रमित हूँ मुझे नहीं मालूम इसका मर्म।
किसी भी एक मार्ग पर चलने का आप मुझे निर्देश दें
जिससे कि मेरा कल्याण हो स्वामी ऐसी बात बता दें।
अर्जुन के इस प्रकार पूछने पर श्रीकृष्ण बोले
इस सृष्टि में जीवों की दो प्रकार की निष्ठाएँ जान लें।
जो ज्ञानी हैं उनकी निष्ठा ज्ञानयोग में होती है
और जो कर्म निष्ठ हैं उनकी निष्ठा कर्मयोग में होती है।
हे अर्जुन किसी भी प्रकार कर्म का स्वरूप त्यागना उचित नही
इससे न तो निष्कर्म भाव की प्राप्ति होती है और न ही भगवद् भक्ति की।
कर्म करना तो मानव स्वभाव होता है
बिना कर्म किये सृष्टि का जीव एक क्षण भी व्यतीत नहीं कर सकता है।
सभी जीव कर्माधीन होते हैं
वे गर्भ में आने से मृत्यु पर्यन्त तक कुछ न कुछ कर्म जरूर करते रहते हैं।
जो मूढ़जन कर्मेन्द्रियों को बलात दमित क.के मन से विषयों का चिंतन करता है
ऐसा ही पुरुष समाज मे दभी पुरुष कहलाता है।
ऐसे दंभी पुरुष से तो वह पुरुष श्रेष्ठ है
जो इन्द्रियों को वशीभूत करके इन्द्रियों द्वारा ही कर्माचरण करता है;
अर्थात् जो पुरुष मन व बुद्धि को मुझमें प्रेरित करे
वही श्रेष्ठ है जो एकाग्र भाव से मेरा स्मरण करता है।
यद्यपि जिसका मन विषयों में लगा है

और दिखावे के लिए आसन पर बैठा है।
तो ऐसे योगी का ध्यान या स्मरण व्यर्थ होता है
जिसका कि कोई भी फायदा नहीं होता है।
हे अर्जुन! कर्मबधन के भय से कर्म करना बुद्धिमत्ता नहीं है
कर्मबंधन में वही बँधता है जो कामना से प्रेरित होकर कर्म करता है।
फल में आसक्ति न रखते हुए तुम मुझ परम ईश्वर में निष्ठा रखिये
कर्म का त्याग करने से तुम्हें पाप ही लगेगा वह तुम्हें अवश्य सोचना च
सृष्टि रचयिता ब्रह्मा ने कल्प के प्रारंभ में जब मानव की रचना की थी
तभी यज्ञादि सामग्री की भी रचना कर डाली थी।
और प्रजा को निर्देश भी दिया था कि यजन कर्म के द्वारा तुम अपना कल्य
अपने पापों का प्रायश्चित करके मनवांछित अभिलाषाएँ पूर्ण करो।
तुम इस कर्म के द्वारा यदि देवताओं को प्रसन्न करोगे
तो वे भी तुम्हारा कल्याण करेंगे।
जो लोग देवताओं को अर्पण करने के बाद बचे हुए अन्न का भक्षण कर
हे अर्जुन! ऐसे ही पुरुष पाप विमोचित होते हैं।
और जो ऐसा नहीं करते वह पापी योगी होते हैं
अर्थात् अपनी ही देह पुष्टि के लिए अन्न भक्षण करते हैं।
हे अर्जुन! जीवधारियों की उत्पत्ति अन्न से होती है
अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है और वर्षा यज्ञादि करने से होती है।
यज्ञादि कर्म वेदोत्पन्न होते हैं
और वेद अविनाशी परम तत्त्व शक्ति से निर्मित होते हैं।
अतः परमाक्षर परमात्मा का सदैव यज्ञ में वास होता है
जो शास्त्रसम्मत कर्म नहीं करता, ऐसा इन्द्रिय लोलुप उसका जीवन व्यर्थ
हे पार्थ! जो प्राणी आत्मनिष्ठ है
जिसकी आत्मा मे प्रीति है और इसी से वे संतुष्ट होकर तृप्त हैं।
उसके लिए उन्हें कोई भी कर्म करना शेष नहीं रहता है
यदि वह कोई कर्म करता भी है तो वह लोकहित के लिए ही करता है
आत्मनिष्ठ या आत्मज्ञाता का सृष्टि के अन्य
जीवों का किसी भी प्रकार का कोई प्रयोजन नहीं रहता है।
तुम भी नित्य निरतर आसक्ति रहित कर्म करो

आसक्तिरहित कर्म में ही परमात्त्व तत्त्व निवास करता है।
अतः हे अर्जुन! तुम्हारे लिए भी कर्म करना ही शोभनीय है
क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अन्य लोग भी अनुसरण करते हैं।
अर्थात् जो आदर्श श्रेष्ठ पुरुष स्थापित करते हैं
वही आदर्श भावी पीढ़ी के लिए प्रमाण भी होते हैं।
यद्यपि तीनों लोकों में मेरे करने योग्य नहीं है कोई भी कर्म
फिर भी मै अवश्य करता हूँ अपने नित्यकर्म।
क्योंकि यदि मैं कर्म का आदर्श स्थापित नहीं करूँगा
तो सृष्टि के जीवों को निष्कर्मण्य होने से कैसे रोक पाऊँगा।
इसलिए जीवों के कल्याणार्थ मुझे सद्कर्म करने शोभनीय है
यदि मैं ऐसा नहीं करूँगा तो लोग हो जायेंगे पथभ्रष्ट जो सोचनीय है।
और मै वर्ण संकर का उत्पत्तिकर्ता व प्रजा का हननकर्ता कहलाऊँगा
जीव मेरा ही अंश है उसे मैं क्यों पथच्युत करूँगा।
पर जिसकी जैसी प्रवृत्ति होती है वह वैसा ही कर्म करता है
गुण-कर्म व विभाग के तत्त्व का ज्ञाता तो इस भेद से भलीभाँति परिचित होता है।
गुण ही गुणों में व्यवहृत होते हैं
इसीलिए वे इनके प्रति आसक्त होते हैं।
हे अर्जुन सभी जीवों का अधिष्ठान मैं ही हूँ
अतः तुम सभी कर्मों को एकाग्रभाव से मुझे अर्पित करो।
निष्काम भाव व मोह का त्याग करके
शोकरहित होकर युद्ध करो।

■

चौथा अध्याय
ज्ञान-कर्म-संन्यास योग

संजय ने कहा हे महाराज! सुनिये
भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मोपदेश देने के बाद क्या कहा जानिये।
हे अर्जुन जिस ज्ञान का उपदेश मैंने तुम्हें दिया है
यही ज्ञान मैंने सूर्य को कल्पारंभ में दिया है।
सूर्य ने यह ज्ञान अपने पुत्र मनु को दिया
और मनु ने यही ज्ञान राजा इक्ष्वाकु को दिया।
इस तरह परंपरागत इस ज्ञानयोग विद्या को राजर्षियो ने जाना
व सहर्ष इसे अपने जीवन में अपनाया।
यही ज्ञान कालांतर मे इस भूमंडल से लुप्त हो गया
अतः हे कौन्तेय! ऐसे ज्ञान को है मैंने तुम्हें बताया।
क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो। हे सखा! यह ज्ञान रहस्यमयी है।
अतः तुम इसको भली प्रकार विचार कर एकाग्रचित्त हो यह अविस्मरणीय है।
भगवान् श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुनकर
अर्जुन के मन में संशय उत्पन्न हुआ।
तब उन्होंने पूछा हे श्रीकृष्ण! आप मेरे मित्र हो
और आपका जन्म तो इसी काल में है हुआ।
लेकिन आपका कहना है कि यह ज्ञान आपने कल्पारंभ में सूर्य को दिया था
यह मेरी समझ से परे है क्योंकि सूर्य का जन्म तो युगो पूर्व ही हो गया था।
अर्जुन के संशय का निराकरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बोले
हे सखा हम दोनों के इससे पूर्व भी अनेक जन्म हो चुके हैं।
जिसका मुझे तो ज्ञान है
लेकिन आप इस रहस्य से अज्ञान हैं।
मेरा स्वरूप विनाश रहित है मेरा जन्म अयोनिज होता है
मुझमें और सांसारिक जीवों में मुख्य अंतर यह होता है।
के जीव प्रकृति के अधीन होकर जन्म ग्रहण करता है

पर मै प्रकृति को अपने अधीन करके इस धरा पर आता हूँ।
इस दिव्य रूप को मैं विशेष कारणों से ही धारण करता हूँ
जिसके द्वारा मैं जीवलोक का कल्याण करता हूँ।
जब-जब धरा पर धर्म की हानि और अधर्म की अभिवृद्धि होती है
तब धर्म के पुनः प्रतिष्ठापन हेतु यह अलौकिक दिव्य स्वरूप किसी काया में प्रकट होता है।
इसलिए हे सखा अर्जुन! मेरा जन्म व कर्म दोनों ही दिव्य कहलाते है
जो जीव मेरे इस दिव्य स्वरूप को तत्त्व से जान जाते हैं।
वह पुन. देह धारण कर भूमंडल पर नही जन्मते हैं
अर्थात् वह मोक्ष पाकर मेरे दिव्यधाम मे मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।
हे अर्जुन! जो भक्त मेरा स्मरण करता है मै भी उसका स्मरण करता हूँ
जो जीव इस रहस्य को जानता है उसे ही मैं शरणागत बनाता हूँ।
जो जीव मुझे तत्त्व से नही जानता वही इस मृत्युलोक में
कर्मफल की आशा से देवतादिकों की आराधना करता है।
ऐसे प्राणियों को उनके कर्मफल स्वरूप सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं
मगर उन्हे मेरे स्वरूप का पता नही हो पाता है।
अत हे पार्थ! तुम एकाग्र भाव से मेरा स्मरण करो
अपनी इन्द्रियों को एक कछुवे के पादों की तरह समेटकर अन्दर करो।
सृष्टि में गुण कर्म के अनुसार प्राणियो की रचना करने वाला भी मैं ही हूँ
और उनके गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व
शूद्र का रचनाकार भी मैं ही हूँ।
तथा इनके कर्मों का निर्धारण भी मैंने किया है।
इन जीवों में जो कर्ता का स्वरूप है उसे मैंने ही तैयार किया है।
जीवों के माध्यम से कर्म का करने वाला होने पर भी मैं कर्मों के बंधन में नहीं बँधता
क्योंकि कर्मफल के प्रति मेरी कोई कामना नहीं होती
ऐसे विकारों में मै नहीं फँसता।
इस तरह जो प्राणी मुझे तत्त्वतः जानता है वह भी कर्मों के बंधन में नहीं बँधता
अतः हे अर्जुन तुम भी अपने पूर्वजों का अनुसरण करो जोकि है तुम्हारा ध्येय बनता।
श्रीकृष्ण के मुखारबिंद से बार-बार कर्म की बात को सुनकर
अर्जुन ने पूछा हे गोविन्द कर्म आखिर है क्या।
जिसे आप बार-बार मुझे प्रेरित करने के लिए कह रहे हैं

तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म गति समझाते हुए कहा।
कर्म की गति अतिगहन है इस कर्म-अकर्म के कारण मनीषीगण भी अ
अब मैं तुम्हें कर्म तत्त्व बतलाता हूँ जिसको जानकर प्राणी भवबंधन से
हे अर्जुन कर्म, अकर्म व निषिद्ध या विकर्म क्या है हम तुम्हे बता
ऐसे कर्म जो शास्त्रानुसार किये जाते हैं कर्म कहलाते हैं।
यदि प्राणी अज्ञानतावश दुष्कृत्य कर बैठता है
तो उसे विकर्म या निषिद्ध कर्मी कहा जाता है।
लेकिन प्रमाद आलस्य के कारण यदि प्राणी कर्म नहीं करते
तो वह अकर्मी कहलाते हैं।
जो प्राणी अहभाव का त्याग करके कर्मों में कर्म भाव नहीं देखत
तथा अज्ञानी के कर्मों पर भी ध्यान नहीं देता।
अर्थात् अज्ञानी की क्रियाओं का अद्रष्टा होता है
वह धीमान होता है और वही योगी या तत्त्वज्ञ होता है।
ऐसा तत्त्वज्ञ या आत्मज्ञानी पुरुष कर्मों में लिप्त नहीं होता
वह विभिन्न प्रकार के मायाजाल में नहीं फँसता।
हे अर्जुन! ज्ञानाग्नि के द्वारा जिस पुरुष के कर्मों का क्षय हो ज
वही विद्वजनों की नजर में पंडित कहलाता है।
ऐसे प्राणी में कर्म-फलेच्छा नहीं रहती
और कर्म फलेच्छा नहीं रहने से क्रोध की उत्पत्ति नहीं होती।
क्रोध तो तब उत्पन्न होता है जब कर्मफल नहीं मिलता है
लेकिन आत्मज्ञानी तो परमानंदरूपी अमृत का पान करके संतुष्ट
ऐसा ज्ञानी कर्म करते हुए भी कर्मबंधन से मुक्त रहता है
और इसी प्रकार वह पुरुष अपने मन और इन्द्रियों पर विजय प
तथा वह जो भी शरीर रक्षा संबंधी कर्म करता है
तो ऐसे पुरुष को उन कर्मों के करने का दोष नहीं लगता है।
हे अर्जुन! जिसने आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया
वह सदैव तृप्त रहता है जिसे कुछ भी मिल गया तो जरूरतवश ग
अर्थात् अति प्रसन्न नहीं होता
यदि कुछ भी न मिले तो भी असंतुष्ट या क्रोधित नहीं होता।
सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख, ईर्ष्या आदि उसे नहीं सताता है

वह सभी जीवों में मेरे ही दर्शन करता हुआ सबके प्रति समभाव रखता है।
समस्त चराचर में वह मुझको ही देखता है
ऐसे आत्मचिंतक विद्वान् को कर्म की बेड़ियो मे नहीं बाँधा जा सकता है।
अर्थात् आत्मज्ञानी के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं
क्योकि वह परम ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर चुके होते हैं।
ऐसा पुरुष व्यावहारिकता में भी ब्रह्म भाव रखता है
यदि वह यज्ञाचरण भी करता है तो स्रुवादि को भी ब्रह्म मानता है।
हवि भी ऐसे पुरुष के लिए ब्रह्म है अग्नि भी ब्रह्म है
हवन भी ब्रह्म है यहाँ तक कि पवन भी ब्रह्म है।
कुछ अन्य योगीजन परमात्मा रूप अग्नि में हवन करने को यज्ञ कहते हैं
अर्थात् आत्मचिंतन करते हुए सुमिरन रूप सामग्री द्वारा यजन करते है।
इसके अलावा आत्मा का एकाग्र भाव से
साक्षात्कार कर जो ब्रह्मस्वरूप में अग्नि यजन करते है।
ब्रह्म या आत्मा का चिंतन भी यजन या हवन है
कुछ अन्य योगनिष्ठ इन्द्रिय संयम के रूप में भी हवन करते हैं।
कुछ योग निष्ठ विषयों पर अंकुश लगाकर हवन करते हैं
कुछ लोग अपना चित्त मुझमें लगाकर गुणगान करते हुए यजन करते हैं।
कुछ अन्य लोग ईश्वर के निमित्त इत्यादि से लोक सेवा करते हैं
कुछ लोग निज धर्म का पालन कर तप यज्ञ करते हैं।
कुछ लोग असंख्य योग करते हैं
इस सबसे अलग कुछ लोग भगवद् चिंतन रूप यज्ञ करते हैं।
कुछ योगीजन अपान वायु में प्राण वायु का
व प्राण वायु में अपान वायु का यजन करते हैं।
कुछ अन्य योगीजन प्राण-अपान की गति को अवरुद्ध कर
प्राणायाम यज्ञ करते हैं ये सब यज्ञ होते हैं।
इन यज्ञ कर्मों के द्वारा ही जीवन भव बंधन से मुक्त होता है
बस इन्हीं के द्वारा ही पापों का क्षय हो जाता है।
हे परंतप! मेरे द्वारा बताए गये सभी यज्ञों में
ज्ञान यज्ञ अर्थात् मेरे तत्त्व को जानना ही श्रेष्ठ है।
जो मुझे तत्त्व से जान लेता है

उसके फिर सभी कर्म स्वत सिद्ध होते हैं।
इसलिए जीव या प्राणी को तत्त्वज्ञाता गुरु के समीप जाकर
दडवत् प्रणाम करके ज्ञान की याचना करनी चाहिए।
ज्ञान मुमुक्षु के श्रद्धाभाव से प्रसन्न होने के कारण ही
तब तत्त्व ज्ञाता गुरु उसे अवश्य ही ज्ञान देंगे ऐसी कामना करनी चाहिए।
तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के बाद उस प्राणी को
सब कुछ ब्रह्ममय ही दिखायी पडता है।
सासारिक मोह–मायादि विकार उसे त्रष्ट नहीं करते
ऐसे प्राणी से ही सच्चिदानंद प्रसन्न होते हैं।
उसके सभी पाप समूह भस्मीभूत हो जाते हैं
सृष्टि मे ज्ञान के सदृश पवित्र कर्ता अन्य कुछ भी नहीं होते हैं।
जो इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लेता है
उसमे समत्व भाव का उदय हो जाता है।
इस ज्ञान की प्राप्ति उसी को होती है जिसका चित्त पवित्र होता है
वही आत्मा के तत्व के ज्ञान से लाभान्वित होता है।
हे अर्जुन! इन्द्रिय संयमी निश्छल मन पुरुष
ज्ञान प्राप्ति के बाद परम शांति को प्राप्त करता है।
जो श्रद्धाहीन, स्वाध्याय न करने वाला, शकालु जीव
परमार्थ से विमुख होता है उसे कहीं भी सुख लाभ नहीं होता है।
अतः हे पार्थ! कर्मबंधन मे न पड़ते हुए समभाव बुद्धि बनाये रखो
अज्ञानतावश उत्पन्न हृदयास्थ संशय का ज्ञान–खड्ग से वध कर दो।
और अब युद्ध के निमित्त खडे हो जाओ
लौकिक मर्यादा की लाज रखते हुए अब तैयार हो जाओ।

पाँचवा अध्याय
कर्म-संन्यास योग

अर्जुन ने पूछा हे श्रीकृष्ण! त्याग-कर्म व फल रहित कर्म, में कौन-सा कर्म श्रेष्ठ है
अभी आपने तो बताया यद्यपि दोनों ही कर्मो को श्रेष्ठतम है।
लेकिन प्रभु इनमें से भी कल्याणकारी कर्म कौन-सा है वह आप मुझे बताएँ
मेरे ज्ञान चक्षुओं को खोलकर वास्तविक रास्ता दिखाएँ।
अर्जुन द्वारा इस प्रकार पूछने पर भगवान् श्रीकृष्ण बोले
हे अर्जुन! त्याग कर्म व फल रहित निष्काम कर्म दोनों ही श्रेष्ठ हैं तू जान ले।
यद्यपि निष्काम कर्म साधन की सरलता के कारण श्रेष्ठ होता है।
त्याग कर्म में मन, इन्द्रियों व शारीरिक कृत्यों का त्याग किया जाता है।
और निष्काम कर्म में भगवद् कृत्यों में समभाव रखा जाता है
हे पार्थ! बस इसी के द्वारा ही यह श्रेष्ठ कहा जाता है।
जो प्राणी इस रहस्य को जान जाता है
वह सुख दुःख से रहित संन्यासी वृत्ति का होता है।
ऐसा प्राणी न तो किसी के प्रति द्वेषभाव रखता है
न ही तो वह किसी प्रकार की कामना ही करता है।
इस प्रकार द्वन्द्व रहित जो प्राणी भवबंधन से मुक्त हो जाता है
पर जो प्राणी संन्यास या सांख्य कर्म में भेद करता है वह मूढ़ होता है।
क्योंकि दोनों कर्मों का फल एक ही होता है
अर्थात् सांख्य योगी ही मेरे धाम को प्राप्त करता है।
और निष्काम कर्म योगी भी मेरे धाम को प्राप्त होता है
साख्य व निष्काम कर्म योग को एक समान मानने वाला ही यथार्थ ज्ञानी होता है।
शरीर, मन, इन्द्रियों के कर्मों में कर्तापन का भाव न लाना दुष्कर है
अर्थात् निष्काम कर्म के बिना संन्यास कर्म का होना असंभव है।
निष्काम कर्म अर्थात् भगवद् चिंतन के द्वारा ही
परमात्त्व तत्त्व की प्राप्ति सुगमता व शीघ्रता से होती है।
निष्काम कर्म करने वाला शुद्ध चित्त होता है तथा

वह सभी जीवों में एक ही तत्त्व को मानकर निष्काम भाव से
हे पार्थ! तत्त्व ज्ञानी सभी कर्मों को करता है
मगर उन कर्मों के प्रति कभी आसक्त नहीं होता है।
तत्त्व ज्ञानी स्वयं को अकर्ता, आत्मा के रूप में देखता है
तथा कर्मों से स्वयं को पृथक् मानता है।
इसी वृत्ति के तहत है वह कर्म करता
इसीलिए उसे कर्मों का दोष नहीं व्यापता।
हे अर्जुन! तत्त्वज्ञ इंद्रिय, मन, बुद्धि देह में अनासक्ति का
भाव रखते हुए चित्त शुद्धि के निमित्त ही कर्म करता है।
इस प्रकार सुखी रहता है परंतु कामना में आसक्ति रखते हुए
कर्म करने वाला सकामी कर्मबंधन में बँधता जाता है।
अतः आसक्ति रहित कर्म अर्थात् निष्काम कर्म ही श्रेष्ठ है
यही उचित, भूमंडल पर मोक्ष का माध्यम है।
हे अर्जुन! जो तत्त्व ज्ञानी या सांख्य योगी है
जो अपनी इन्द्रियों को अपने वश मे किये हुए है।
जो एकाग्र भाव से मेरे सत्य स्वरूप में लीन रहता है
वही इस भूधरा पर सर्वाधिक सुखी रहता है।
जो यह मानता है कि सृष्टि में जो कुछ भी है
वह सब माया का ही रचा हुआ है।
गुण ही गुण में बरतते हैं मूढ़जन माया से मोहित होकर ही
जो जन मुझे निर्लेप मानते हैं मुझ परमात्मा के अंश का चिंत
ऐसे तत्त्व ज्ञानी जो विद्वान् व विनयी ब्राह्मण, गाय
गज, श्वान, चांडाल, साधु, ऊँच, नीच सभी में समभाव रखते
वही पुरुष मुक्त होते हैं
वही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।
जो समदृष्टि है प्रिय वस्तु को पाकर सुखी नहीं होते
तथा अप्रिय वस्तु को प्राप्त करके दुःखी नहीं होते।
ऐसा स्थिर चित्त, शंकारहित, आत्मतत्त्व का ज्ञाता
ब्रह्मभाव में लीन रहता है।
सांसारिक विषय भोगों से विरक्त

शुद्ध अंत:करण वाला जीव ही अनंत आनंद का भोक्ता होता है।
इन्द्रिय सुखों से अंततः दुःख की ही प्राप्ति होती है
अतः बुद्धिमान जीवो की काया सासारिक भोग विलासों में लीन नहीं होती है।
जिसने इस मानव शरीर में रहते हुए ही काम-क्रोध पर विजय पा ली
वही सुखी है और हे अर्जुन! वही है परम योगी।
जो आत्मयोगी आत्म सुखी, आत्मानद आत्मा के
तेज से तेजस्वी होता है।
वही ब्रह्म स्वरूप होकर
हे अर्जुन! ब्रह्म पद को पाता है।
इसी तरह जिसके पापों का क्षय हो गया है
जिसमें द्वैतभाव नहीं रह गया है।
जो सबके प्रति प्रेम भाव रखता है
नित्य मेरे अंश आत्मा में ही रहता है।
जो शांत स्वभावी होता है
वही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त होता है।
हे अर्जुन! सृष्टिगत प्रपंचों से विमुख होकर
जो इन्द्रियों को अपने वश में करता है।
भ्रूमध्य में ध्यान करके प्राण वायु और अप्राण वायु
को सम करके मन, बुद्धि व इन्द्रियों को जीत लेता है।
और क्रोध रहित होकर जो निरंतर ब्रह्म का ध्यान किया करता है
वही इस भूधरा पर मुक्त हो पाता है।
हे अर्जुन! जो मेरा भक्त होता है
वह मुझे ही सर्वव्यापी मानता है।
वह यज्ञ तप सभी जीवों में मुझे ही देखता है
तथा आत्मस्वरूप का ज्ञान पाकर परमशांति पाता है।
मै ही उसकी दृष्टि में सब कुछ हूँ।
मै इस प्रकार उसे अखंड सुख देता हूँ।

■

छठा अध्याय

आत्मसंयम योग

श्रीकृष्ण बोले हे अर्जुन जो जीव या प्राणी कर्मफल में
आसक्ति न रखते हुए करणीय कर्म ही करता है
वही संन्यासी होता है इसके विपरीत भगवा वस्त्र पहनने वाला
अग्नि प्रज्ज्वलित कर भस्म रमाने वाला संन्यासी व योगी नहीं होता है।
इसी प्रकार क्रियाओं का परित्याग करने वाला संन्यासी नही होता है
इसलिए जिसको संन्यास कहा जाता है उसी को योग भी कहा जाता है।
जो कामनाओं का विच्छेदन नहीं करता
ऐसा प्राणी योगी नहीं कहलाता।
योगी वही कहलाता है
जो सब जीवों में समभाव रखते हुए फल की कामना के बिना कर्म करता है
तथा अपने चित्त को मुझमें ही प्रेरित करता है
इस प्रकार वह योगारूढ पुरुष होता है।
उसके लिए संकल्पों का परित्याग ही कल्याण कारक होता है
अर्थात् इन्द्रिय भोगों व कर्मों से निर्लेप को ही योग रूढ़ कहा जाता है।
ऐसे ही पुरुष का आत्मोद्धार होता है
हे अर्जुन! ऐसा भक्त मुझे परम प्रिय होता है।
हे अर्जुन! मनुष्य शरीर प्राप्ति का उद्देश्य ही
भवसागर से अपना उद्धार करना होता है।
इसलिए उसे ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए
जिसके कारण आत्मा का अधःपतन होता है।
क्योंकि आत्मा स्वयं ही अपना मित्र है
और स्वय ही अपना शत्रु है।
अर्थात् जब जीव मुझमें निष्ठा रखते हुए आत्मचिंतन करता है

तब आत्मा ही जीव का मित्र होता है।
जब जीव मुझे भुलाकर बहिर्मुखी अर्थात् सासारिक चक्रो मे रमता है
तो हे अर्जुन! तब आत्मा उसका शत्रु होता है।
जो प्राणी अंतःकरण से शुद्ध है अर्थात् जो अपने आत्मा में
मेरे ही स्वरूप का ध्यान करता है,
उसे प्राकृतिक प्रकोप अर्थात् सर्दी-गरमी, सुख-दुःख
मान-अपमान व्यथित नहीं करता है।
जो स्वात्मा मे ही रमण किया करता है
वही ज्ञानी पुरुष कहलाता है।
जिसने आत्मतृप्ति रूप अमृत का पान किया है
जो इन्द्रिय संयमी है जिसने अपनी प्रवृत्तियों को मुझमें लगाया है,
ऐसे योगी के लिए स्वर्ण-मिट्टी
शत्रु-मित्र सभी समान होते हैं।
वह सभी का हितैषी पक्षपात रहित होकर
सभी से श्रेष्ठ योगी पुरुष होते हैं।
वही परमात्म सुख की प्राप्ति करता है
ऐसा ही योगी समस्त विश्व मे अपनी कीर्ति को फैलाता है।
हे अर्जुन! एक योगेच्छ को
साधना या क्रिया किस प्रकार करनी चाहिए।
सर्वप्रथम भू-भाग को पवित्र कर और उसे
न अधिक ऊँचा और न अधिक नीचा आसन बिछाना चाहिए।
आसन पर सुख मुद्रा में बैठकर इन्द्रियों का निग्रह करे
और चित्त शुद्धि के लिए प्राणायाम पूर्वक योग क्रिया करे।
योग क्रिया करने के लिए शरीर को स्थिर या सीधा रखते हुए
भ्रूमध्य (भौहो के बीच का स्थान) में चित्त को स्थिर करे।
तदोपरात सारे सांसारिक विचारों को त्याग दे
और मुझ परमात्मा का ध्यान करे।
इस प्रकार जो पुरुष योग क्रिया करते हुए मुझमें रमता है
वही परमानंद को प्राप्त होता है।
हे अर्जुन! उपरोक्त वर्णित योग क्रिया की

सिद्धि भी प्रत्येक प्राणी को नहीं होती
इस योग सिद्धि के लिए पुरुष को न तो
बहुभोजी होना चाहिए और न ही मित भोजी।
न निद्रालु न सदैव जाग्रत रहने वाला होना चाहिए
अर्थात् उसे संयमित जीवन व्यतीत करने वाला होना चाहिए
वह योग सिद्धि को प्राप्त करता है।
जो इस प्रकार अभ्यास के द्वारा अपने मन को स्थिर करता
वही योग मुक्त कहलाता है।
ऐसे योगी का चित्त उसी प्रकार हो जाता है
जैसे वायु शून्य स्थल पर दीपक स्थित हो जाता है
तथा फिर वह परमानंद को प्राप्त हो जाता है।
अतः योग क्रिया सदैव एकांत में करने से ही मन स्थिर होत
तब उसे मुझ परमात्मा का दर्शन लाभ कर आत्म सुख का अ
वह आनंद इन्द्रिय सुख से भी अधिक आनन्ददायक होता है
उस आनंद को प्राप्त पुरुष उस आनंद से विमुख नहीं होना
उस आनंद के समक्ष उसे एहिक सुख तुच्छ जान पड़ता है
उसे हो जाता है परमज्ञान वह उसी में लीन रहता है।
जो पुरुष इस तरह आत्मानंद में लीन रहता है
हे अर्जुन! वह विकट सांसारिक दुःखों से नहीं घबराता है।
आनंददायक योग विद्या को अवश्य जानना चाहिए
तत्परता से इसके रहस्यों में ध्यान लगाना चाहिए।
मन या चित्त चलायमान है, पल में एक स्थान पर रहता है
तो दूसरे ही पल वह कोसों दूर भी चला जाता है।
अब मन को स्थिर कैसे किया जाय
इसका उपाय भी सुनो हम तुम्हें बताएँ।
मन में किसी भी प्रकार की कामना को मत जाग्रत होने दो
कामना या वासना के रहने से ही मन चलायमान होता है जा
अतः कामनाओं के परित्याग से ही कल्याण होता है।
इन्द्रियों का विग्रह करते हुए मन को मुझ परमात्मा मे लगाने से

जिस पुरुष का मन स्थिर नहीं रहता है
उस पुरुष को एकांत सेवन करते हुए मन को परमात्मा में बार-बार लगाना पड़ता है
इससे मन में स्थिरता आती है
व आध्यात्मिक प्यास की इच्छा जागृत होती है।
सांसारिक विषय भटकाने वाले होते हैं
अत योगी इन विषयों मे मन को नहीं लगाते हैं।
इस प्रकार जो पुरुष योग क्रिया द्वारा मन को स्थिर कर पाता है
सिर्फ वही परमात्म सुख को प्राप्त कर पाता है।
जो पुरुष एकाग्र मन वाला होता है
हे अर्जुन! उसमें द्वैतभाव बिल्कुल नही रह जाता है।
अर्थात् वह अपने आत्मा के समान ही
अन्य जीवो मे भी आत्मा के दर्शन करता है।
ऐसे योगी के लिए कभी मेरा अभाव नहीं होता
और वह श्रेष्ठ पुरुष संसार को स्वप्नवत् देखता है।
इस प्रकार जो पुरुष मेरे आनन्दमय
सत्य आत्मस्वरूप का सदैव ध्यान करता है,
उसके द्वारा किये गये सभी कृत्य मेरे ही निमित्त होकर
और उसे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है।
उसके लिए सुख-दुःख व सृष्टिगत जीव सभी सम होते हैं
जिस योगी का ऐसा समभाव हो जाता है वही श्रेष्ठ योगी होते हैं।
ऐसा योगी पुनः भवबंधन में नहीं पड़ता
वह सांसारिक रिश्तों से प्रताड़ित नही होता।
श्रीकृष्ण के ऐसे वचनों को सुनकर अर्जुन बोला
हे मधुसूदन आपने जो समभाव का उपदेश मुझे दिया है
यह मुझ जैसे प्राणी के लिए असंभव है प्रतीत होता
हालांकि आपने मेरा मार्गदर्शन किया है।
क्योंकि मन बड़ा चंचल, बलवान, प्रमयन वृत्ति का है
अतः इसे वश मे करना वायु को वश में करने के समान ही दुष्कर है।
ऐसे मन को किस प्रकार वश में किया जा सकता है
हे मधुसूदन! आप उपाय बताएँ इसका आप मेरे विधाता हैं।

अर्जुन के संशय का निवारण करते हुए श्री कृष्ण बोले
कि हाँ मन चंचल होने से उसे वश में नहीं कर सकते।
इसको वश में करना एक दुष्कर कार्य होता है
लेकिन अभ्यास के द्वारा मन को निश्चित ही वश में किया जा सकता है।
अर्थात् दुष्प्रवृत्ति और विषयों से मन को बार-बार मोड़कर
मुझ परमात्म तत्त्व में लगाने से मन एकाग्र होता है।
जो पुरुष इस प्रकार अभ्यास के द्वारा
मन को वश में करता है वही योग को प्राप्त होता है।
जो पुरुष इस प्रकार अभ्यास नहीं करता है
उसके लिए योग को प्राप्त करना असभव होता है।
इतना सुनकर अर्जुन बोला हे कृष्ण! जो पुरुष पथ भ्रष्ट हो जाता है
अर्थात् जो आपके प्रति मन को रमाकर भी आपकी कृपा का पात्र नहीं बन पाता है।
इस चंचल मन के कारण जिसके
योग साधना में यदा-कदा व्यवधान पड़ जाता है।
लेकिन बुद्धि आपके प्रति ही स्थिर रहती है
उस योग भ्रष्ट का क्या हाल होता है?
ऐसा योगी कहीं वायु द्वारा छिन्न-भिन्न किये
बादलों की भाँति प्रायः नष्ट तो नहीं हो जाता।
हे कृष्ण मेरे मन में उत्पन्न इस संशय का निराकरण करने में
आप समर्थ है अतः मैं इस संशय को हूँ जानना चाहता।
अर्जुन के संशय का निराकरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बोले
ऐसे योग भ्रष्ट का इस लोक व परलोक दोनों में क्षय नहीं होता यह जान लें।
जो पुरुष भगवत् परायण होता है
वह दुर्गति को कभी भी नहीं प्राप्त होता है।
न ही उसके द्वारा किये शुभ कृत्यों का कभी क्षय होता है
ऐसा पुरुष स्वर्गिक सुख भोगता है।
स्वर्गिक सुख भोगने के बाद वह इस भूमडल पर
श्रेष्ठ कुल में नवीन देह धारण करता है।
और हाँ अर्जुन! यह बात जान लो कि यह देवताओं
व ऋषि मुनियों के लिए भी दुर्लभ होता है।

अथवा जो वीत रागी पुरुष होता है
वह उत्तम लोकों में न जाकर इसी लोक में रहता है।
वे मृत्युलोक में ही विद्वान् लोगों के यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं
ऐसी योनि में उन्हें जन्म अपने विशेष कृत्यों के कारण मिलते हैं।
ऐसा योगी पुरुष जो अंत समय में भी मुझे नहीं भुलाता है
जिसका मन इस काल मे भी मेरे ही प्रति समर्पित रहता है।
ऐसा पुरुष भी स्वर्गिक सुख भोगकर
अगला जन्म बुद्धिमानों के घर में पाता है।
श्री कृष्ण बोले हे अर्जुन। इस प्रकार योगी पुरुष
पुन मेरी भक्ति कर परमपद को प्राप्त होता है।
इस प्रकार योग सिद्धि एक ही जन्म मे योगी नहीं प्राप्त कर पाता
इसके लिए वह अनेक जन्म है लेता।
और उन जन्मों में योगी का लक्ष्य विस्मृत नहीं होता है
और वह योग मार्ग से विमुख न होते हुए परम धाम को प्राप्त होता है।
हे कौन्तेय तपकर्ताओं, शास्त्र ज्ञाताओं व फल प्राप्ति के लोभ में
कर्म करने वालों से योगी कहीं अधिक श्रेष्ठ होते हैं।
हे अर्जुन! तुम भी योगी हो, सब योगियों मे जो श्रद्धापूरित योगी मुझ
परमात्मा का स्मरण करता है वही मुझे प्रिय होते हैं।



सातवाँ अध्याय
ज्ञान विज्ञान योग

तदंतर भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे कौन्तेय!
मेरे प्रति तुम्हारे मन में कैसे श्रद्धा भाव जागे सुनो हम बताएँ।
सृष्टि के हजारों पुरुषों में से कोई बिरला ही ऐसा होता है
जो मुझे अथवा मेरे परमपद को पाने के लिए प्रयास करता है।
ऐसे प्रयासकर्ता पुरुषों में भी कोई बिरला ही होता है
जो मुझे तत्त्व से जानकर मेरे प्रति श्रद्धाभाव रखता है।
हे अर्जुन! कई तत्त्वों से मिलकर बनती है मेरी प्रकृति
जिसके कि दो स्वरूप हैं जड़ प्रकृति व चेतन प्रकृति।
जड प्रकृति अपरा कहलाती है
तथा चेतन प्रकृति परा कहलाती है।
यह जीव स्वरूपा होती है
इसी के द्वारा सृष्टि धारण करने योग्य होती है।
तब भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे परतप
इस शरीर में पंचतत्त्वों को इस प्रकार स्थित किया जाता है।
मांस पृथ्वी तत्त्व का अंश, रक्त जल तत्त्व का अंश, श्वांस वायु तत्त्व का अंश
अग्नि तत्त्व तेज का अंश और शून्य आकाश तत्त्व का अंश होता है।
इन पचतत्त्वों के अतिरिक्त मन, बुद्धि अहंकार है
इन सबसे परे जो जीव है वह तत्त्व के द्वारा ही है।
इन्हीं पंचतत्त्वों के शरीर को वह धारण करता है
यही जीवों की सृष्टि है जिसे गतिशील रखने में मदद करता है।
हे कौन्तेय! जड़ व चेतन प्रकृतियों के द्वारा ही मै सृष्टि को रचता हूँ
सृष्टि रचना भी मै अपनी ही माया द्वारा करता हूँ।
इस तरह सृष्टि का उत्पत्तिकर्ता, पालनकर्ता व संहारक भी मैं ही हूँ
मुझसे पृथक् सृष्टि में कुछ भी नहीं अर्थात् सृष्टि का मूल मैं ही हूँ।

एक सूत्र मे पिरोये हुए मनकों की भाँति मुझसे जुड़ी है यह सृष्टि
अर्थात् भू-धरा पर जितने भी जीव हैं उनमे मेरा ही अश है झंकृत।
हे अर्जुन! जल में मैं रस तत्त्व हूँ
चन्द्रमा में प्रकाश तत्त्व हूँ।
वेदो में प्रणव हूँ आकाश में तत्त्व हूँ पुरुषों में पुरुषत्त्व हूँ
पृथ्वी मे पवित्र गंध तत्त्व हूँ अग्नि में तेज तत्त्व हूँ।
अर्थात् जीव जिस आधार से प्रतीत होते हैं वह तत्त्व भी मैं ही हूँ
तपोनिष्ठों का तप और सभी जीवो का जीवन भी मैं ही हूँ।
अर्थात् जितने भी तत्त्व होते हैं
वह अन्य तत्त्व पर आश्रित होते हैं
तथा सबका तत्त्व सार मुझे ही मानो
सृष्टिगत जितने भी जीव है तुम उनमे मुझको ही जानो।
इन सभी में मैं ही कर्तारूप होने के पश्चात् भी इनसे पृथक् हूँ
हे अर्जुन! आदिकाल से मैं ही सृष्टि का उद्धारक हूँ।
माया के मोह से ग्रस्त होने के कारण ही
जीव मुझ नाशरहित को नहीं जान पाता है।
क्योकि माया का मोह बड़ा विलक्षण है इसका पार तो
वही पा सकता जो निरंतर मेरा ही स्मरण करता है।
स्मरण रूप इतना सुगम साधन होने पर भी
मूढजन मेरा स्मरण नहीं कर पाते।
ये चार प्रकार के भक्त ही मुझको सिर्फ स्मरण करते हैं
एकाग्रभाव से वे अपने चित्त को मुझमें लगाते हैं।
ऐसे ज्ञानी भक्त को ही मैं मानता हूँ
उसकी तत्त्वज्ञानिता का मैं उसे फल देता हूँ।
यद्यपि मुझे स्मरण करने वाले सभी जीव
मुझे श्रद्धावत ही स्मरण करते है।
लेकिन ज्ञानी पुरुष तो मुझमें ही रमे हुए
साक्षात् मेरे ही प्रतिरूप होते हैं।
जो पुरुष सांसारिक पदार्थों की कामना करते हैं

सृष्टि मे प्रतिष्ठित लोक देवताओं की पूजा करते हैं।
उनके प्रति भी उनकी भक्ति को दृढ़ करने वाला मैं ही हूँ
और जो उसकी कामना पूरित होती है उसका हेतु मैं ही हूँ।
अर्थात् उस देवता के द्वारा फल प्राप्ति कराने वाला भी मैं ही हूँ
उस देवता को अविनाशी बताने वाला भी मैं ही हूँ।
ऐसे लोक देवताओं के पूजने वाले और
श्रद्धा रखने वाले पुरुष उन्ही देवताओं को प्राप्त होते हैं।
और मेरे भक्त मुझे किसी भी भॉति स्मरण करे
तो वह भी मुझे प्राप्त होंगे और सारे देवतागण तो मेरे ही अवयव होते हैं।
अपने अहंकार के वशीभूत होकर मूढजन मुझे
किसी के द्वारा जन्मा हुआ जानकर मेरा स्मरण नहीं करते हैं।
हे कौन्तेय वे ऐसा इसलिए करते हैं कि वह
तत्त्व ज्ञान न होने के कारण समझ नहीं पाते है।
वह मेरा जन्म अन्य जीवों की भांति हुआ समझते हैं
और आजीवन मोह माया भोग विलास में लिप्त रहते हैं।
इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं
अज्ञानी जीव ही मुझे नाशवान जन्म लेने वाला समझते हैं।
क्योंकि उनकी बुद्धि में माया का आवरण होता है
उन्हें परमज्ञान का कोई बोध नहीं होता है।
हे अर्जुन मैं अतीत, वर्तमान व भविष्य
के जीवों को भली प्रकार से हूँ जानता।
लेकिन जिस मूढ में मेरे प्रति
श्रद्धा नहीं होती ऐसा पुरुष मुझे नहीं पहचानता।
सुख, दुःख, हर्ष, शोक में लिप्त रहने वाले
पुरुष अज्ञानी होते हैं।
लेकिन जो पुरुष आसक्ति रहित कर्म करते हैं
उनके राग द्वेष स्वय ही समाप्त हो जाते हैं।
तो हे अर्जुन सुनिये ऐसे स्थितप्रज्ञ
पुरुष ही मेरा स्मरण करते है।

वही पुरुष मेरी शरण ग्रहण करके वृद्धावस्था व
मरण से मुक्ति की कामना से मुझे स्मरण करते हैं।
जो मुझे अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ समझते हैं
वाष्प, मेघ, धूम, जल, हिम आदि सभी कुछ जानते हैं।
इस प्रकार जानने वाला शांत चित्त पुरुष ही मुझे प्यारा है
वैसा ही पुरुष मुझे स्मरण करते हुए मेरे परमपद को प्राप्त होता है।



आठवाँ अध्याय

अक्षर ब्रह्म योग

अर्जुन बोला हे पुरुषोत्तम! जिस ब्रह्म की
आप इतनी महिमा गाते हैं
वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है?
अधिभूत किसे कहते हैं?
अधिदेव क्या है? हे मधुसूदन यहाँ
अधियज्ञ किसे कहते हैं?
इस स्थूल शरीर में उसकी क्या स्थिति है एकाग्रचित्त पुरुष
अंतकाल में आपको किस प्रकार जान पाते हैं।
कृपया आप इन गूढ रहस्यों को मुझे बतलाएँ
मुझे इस तरह से ज्ञान का मार्ग दिखाएँ।
अर्जुन के संशय को दूर करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बोले
हे अर्जुन! जिसे परमाक्षर कहा जाता है
वही ब्रह्म है उसका कभी भी
व किसी काल में भी विनाश नहीं होता है।
वह ब्रह्म सत्य आनंद स्वरूप नित्य परमात्मा है
यही जीव का जो आत्मा है उसे अध्यात्म कहा जाता है।
जीवों में कामना का भाव जागृत करने वाले
यज्ञ, दान, हवन के लिए जो द्रव्यादि का व्यय होता है
वही कर्मरूप से जाना जाता है यही
पंचभूत तत्त्व है इन्हीं से पृथ्वी की रचना व संहार होता है।
हिरण्यमय पुरुष जिसे शास्त्रों में हिरण्यगर्भ या प्रजापति कह
यह सभी कल्याणकारी है जिन्हें अधिदेव कहा जाता है।
हे अर्जुन भूतों मे मै ही अधियज्ञ रूप से हूँ जाना जाता

इस प्रकार जो पुरुष अंतकाल में मुझको स्मरण करके देह का अवसान करता
वही मेरे स्वरूप को पाकर मेरे दिव्यधाम को है जाता
इसमें जरा नहीं सन्देह कि वह परम सुख नहीं पाता।
हे कौन्तेय। जीव मरण काल में मुझे जिस प्रकार स्मरण करता है
वह अगले जन्म में उसी तरह के जन्म को प्राप्त करता है।
अत हे अर्जुन तुम नित्य निरंतर मेरा ही एकाग्र भाव से
चितन करते हुए युद्ध भी करो।
अपनी प्रवृत्तियों को मुझमें लगाओ
व ज्ञान के मार्ग द्वारा मुझे प्राप्त करो।
और जो अतकाल मे भी माया का ही चिंतन करता है
वह अपने अगले जन्मों में भी भटकता रहता है।
अभ्यास योग के द्वारा जो निरंतर मुझ परम तत्त्व का चिंतन करता है
वही मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।
हे कौन्तेय श्वास गति का क्रम कब टूट जाय
इसी को ध्यान मे रखकर नित्य स्मरण करना चाहिए।
क्योकि मैं ही दिव्य पुरुष व मैं ही प्रकाशमय भी
जो इस प्रकार मेरा स्मरण करता है।
मुझ सर्वव्यापक, अनादि, अंतर्यामी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म
भास्कर समान, नित्य चैतन्य प्रकाशरूप का चितन करता है।
और वही अंतकाल में त्रिकुटी में प्राणों को स्थिर कर
एकाग्रचित्त से मुझ परम पुरुष का श्रद्धावत चितन करता है।
वही मुझ सच्चिदानंद स्वरूप के मर्म को जानकर
जीव लोक मे मुक्त होता है।
वही मेरे मोक्ष धाम या बैकुंठ को जाता है
तथा अपनी देह का शास्त्रानुसार परित्याग करता है।
वेद विज्ञ जिस परम पुरुष तत्त्व को प्रणव रूप से संबोधित करते हैं
तथा निष्काम कर्मयोगी जिसमें समाहित होते हैं।
ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जो जीव परमपद को प्राप्त होते हैं
हे अर्जुन हम तुम्हें वही बतलाते भी तो हैं।
इन्द्रियों को उनके विषयों से विमुख कर

चित्त को ह्रदय में एकाग्र कर निज चंचल मन को स्थिर कर
योग साधना द्वारा प्रणवाक्षर को ध्वनित करता हुआ
मेरे स्वरूप का स्मरण करता हुआ
जो देह का परित्याग करता है
वह सांसारिकता से मुक्त हो जाता है।
जो योग पुरुष नित्य निरतर मेरा ही स्मरण या चिंतन करते है
उनके लिए हम सदैव सर्वत्र उपस्थित रहते हैं।
ऐसा पुरुष मुझे सहज प्राप्त कर सकता है
ऐसा पुरुष पुनः देह धारण नहीं करता है।
ब्रह्मलोक से मृत्युलोक व अन्य लोकों में जीवों का पुनरागमन होता रहता है
लेकिन जो मेरा भक्त है वह मेरे परमधाम को चला जाता है।
उसका जन्म फिर नहीं होता
अर्थात् वह मुक्त हो जाता।
काल से आबद्ध न होने के कारण मेरा वह काल भी धाम से आबद्ध नहीं है
लेकिन ब्रह्मादि अन्य जितने भी लोक हैं वह काल से आबद्ध भी है।
अर्थात् निश्चित काल के बाद इन लोको का पर्यवसान हो जाता है
लेकिन मेरा धाम अक्षुण्ण रहता है।
सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग जब
एक हजार बार व्यतीत हो चुका होता है
तब ब्रह्मा के लिए एक दिन व इसी तरह
एक रात्रि का निर्माण होता है।
कलियुग सबसे हीन आयु अर्थात् चार लाख
बत्तीस हजार वर्षों का होता है।
इससे दुगुना द्वापर, द्वापर से दुगुना त्रेता
व त्रेता से दुगुना सतयुग होता है।
जो पुरुष इस प्रकार काल का ज्ञान जानने वाला होता है
वह किन्हीं भी प्रपंचों में नहीं पड़ता है।
क्योंकि वह जानता है कि जो कुछ भास होता है।
वह ब्रह्मा के सूक्ष्म रूप से उत्पन्न होता है
और एक दिन अर्थात् ब्रह्मा के रात्रिकाल में जाने वाला है

तथा ब्रह्मा का जब दिन होगा तब पुन. उत्पन्न होने वाला है।
सभी जीवों के समाप्त होने पर भी मुझ परम पुरुष की स्थिति यथावत् रहती है
हे अर्जुन! अत्यक्ताक्षर भाव ही परमपद का स्वरूप ले सकती है।
और ऐसे परमपद को पाने के बाद जीव पुनः नही लौटता
हॉ अर्जुन ऐसा ही है मेरा परमधाम होता।
जिस परम पुरुष में यह चराचर जीव व्याप्त होकर सृष्टि प्रतीत होती है
उस परम पुरुष की प्राप्ति शरणागत भक्ति से ही प्राप्त होती है।
हे अर्जुन! मैं तुम्हें उन मार्गो को हूँ बतलाता
जिन पर जाने वाला जीव कभी लौटकर नहीं आता।
अथवा जिस मार्ग से जाने वाला जीव लौटकर भूमण्डल पर आता है
एक मार्ग ज्योतिर्मय अथवा प्रकाश पथ कहलाता है।
सूर्य जिन छह मासो में उत्तरायण में होता है
तब देवताओ का दिन होता है।
जो जीव उत्तरायण मार्ग से जाता है
वह लौटकर नही आता है।
दूसरा मार्ग दक्षिणायण कहलाता है
इस मार्ग में चन्द्र ज्योति का क्षीण प्रकाश रहता है।
इस मार्ग के अभिमानी देवता धूम, रात्रि कृष्ण पक्ष है
ये शास्वत व शास्त्रानुसार है।
जो जीव मरणोपरांत इस मार्ग से जाता है
उसको भूमंडल पर लौटकर आना ही पड़ता है।
जो जीव मेरा स्मरण करता हुआ देह का त्याग करता है
वह देवलोक से होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।
जो जीव फल की कामना रखते हुए मुझको स्मरण करता है
वह दक्षिणायण मार्ग से चन्द्र ज्योति के प्रकाश से होकर स्वर्ग में जाता है।
तथा द्रव्यकर्मो के फल भोगकर भूमंडल पर लौट आते हैं
क्योकि शुक्ल पक्ष व कृष्ण पक्ष ही सनातन मार्ग होते हैं।
जो योगनिष्ठ इन मार्गो को तत्वत. जानता है
वह निष्काम भाव से भक्ति करता है।

वह प्रपंचों व कामभाव से सर्वथा दूर रहता है
वही मुझे प्यारा है जो शास्त्रानुसार कृत्य करता है।
तुम निरंतर समभाव रखते हुए मेरा स्मरण करो
हे अर्जुन तुम तत्त्वतः जानने का प्रयास करो।
फिर तुम्हें अपने किसी पुण्य फल की कामना नहीं रह जायेगी
और तुम्हें सनातन परमानंद स्वरूप मिलकर मोक्ष की प्राप्ति होगी।



नौवाँ अध्याय

राज विद्या–राज गुह्य योग

भगवान् श्रीकृष्ण बोले, हे अर्जुन आप मेरे प्रिय सखा व परम भक्त हैं
इसलिए हम तुम्हें अति गूढ़ रहस्य बतलाते हैं।
जिसे जानकर योगी भवसागर से मुक्त हो जाता है
यह गूढ़ रहस्य सभी विधाओं में सर्वोपरि पावन होता है।
साधना या भक्ति मार्ग का यह रहस्य तत्त्व या ज्ञान सरल व अक्षुण्ण है
अर्थात् जो श्रद्धावान नहीं वही इस सृष्टि में भव बंधनों में पड़कर भटकता है।
यह सृष्टि मुझ परम पुरुष में उसी प्रकार व्याप्त है
जैसे हिम में जल अर्थात् सृष्टि मेरे संकल्प का मूर्तरूप है।
मै अपने संकल्प द्वारा सभी जीवों में व्याप्त होने पर भी उनसे पृथक् हूँ
अर्थात् सभी जीवों की मुझमें स्थिति है न कि मैं उन जीवों में हूँ।
हे प्रथापुत्र कौन्तेय! कल्पात में सृष्टिगत
सभी जीवों का प्रकृति में विलय हो जाता।
तथा कल्प के प्रारंभ में मैं ही उन जीवों को
त्रिगुणों के आधार पर पुनः रचता।
इन त्रिगुणों के अनुसार ही सृष्टि जीव अपने कर्मों में लीन हो जाते हैं
हे अर्जुन.इस त्रिगुणमयी सृष्टि में भी जो जीव सत्व गुण वाले होते हैं।
अर्थात् जिनकी मुझमें आस्था होती है
उनमे उदासीनता भी दिखती है।
ऐसे जीव कर्म तो करते हैं
लेकिन उन कर्म बंधनों मे नहीं बँधते हैं।
मेरी इच्छा होने पर ही योगमाया सृष्टि की रचना करती है
अतः जैविक काया मायामोह के चक्कर में पड़कर ही
जन्म मरण के चक्र में भ्रमण करती है।
और हे कौन्तेय। मैं ही होता हूँ सभी जीवों का निर्माता
पर जो जीव ऐसा नहीं जानता वही मुझे सांसारिक मानता।

वही मेरे तत्त्व रूप से अनभिज्ञ रहता है
व्यर्थ आशा रखने वाला व्यर्थ कर्म करने वाला होता है।
आसुरी वृत्ति से मोहित होने के कारण ही तामसी होता है
लेकिन जो जीव दैवी स्वभाव का होता है वह श्रद्धालु होता
वह मुझको ही सृष्टि का अधिष्ठाता, अविनाशी
ब्रह्म स्वरूप जानकर नित्य निरंतर मुझे स्मरण करता है।
ऐसा ही जीव मेरा परम भक्त होता है वही मेरी
प्राप्ति या प्रमाण का साधन करता है।
ऐसे सद्वृत्ति जीवों में अनेक मुझे नाना प्रकार से भजते है
कोई मुझे विराट रूप तो कोई मुझे वासुदेव रूप में भजते है
तथा अन्य जीव भी स्वामी–सेवक भाव से मेरी आराधना कर
व शास्त्रानुसार चलते हुए मोक्ष को प्राप्त होते हैं।
हे अर्जुन! कृत, यज्ञ, स्मृति, कर्म, स्वधा, औषधियां
मन्त्र धृत, अग्नि, हवन आदि मुझको ही जानना चाहिए।
सृष्टि का धारणकर्ता, पोषणकर्ता, कर्म फल दाता, माता–पित
पितामह, ऋषि, गुरु व वेदादि मुझे ही समझना चाहिए।
इसी प्रकार प्राप्य, भरण–पोषण कर्ता, सबका अधिष्ठाता
शुभ अशुभ कर्मों का द्रष्टा, सबका वास स्थल, आश्रय व उत
प्रलयकर्ता, मूलाधार निधान जिसमें जीव विलीन होते हैं
वह विनाश रहित लीला भी हम ही रचते है।
सूर्य में ताप देने की शक्ति व वर्षा को आकर्षित करने वाला
हे अर्जुन अमृत, मृत्यु, सत्यासत्य भी मैं ही हूँ।
तीनों वेदो (ऋग, साम व यजुर्वेद) मे सकाम के निमित्त
जिन–जिन विधानों को किया गया है वर्णित।
उन कर्मो के कर्ता, सोमरस के सेवन कर्ता
पाप से पवित्र हुए पवित्र पुरुष करते हैं यज्ञ द्वारा मेरी आराध
स्वर्ग प्राप्ति के इच्छुक पुरुष पुण्य कर्मों के प्रभाववश
इन्द्रलोक से होकर स्वर्ग मे देवतुल्य भोगों को भोगते हैं।
और हे अर्जुन उनके पुण्य क्षीण हो जाने पर

फिर दोबारा वह मृत्युलोक में आ जाते है।
इस प्रकार ऐसे जीवों का यह क्रम अर्थात् पुण्य कर्म कर
स्वर्गिक सुख भोगना और मृत्युलोक में आना आदि लगा रहता है।
लेकिन जो भक्त निष्काम मन द्वारा मेरा चिंतन करता है
उन्हें योगक्षेम की प्राप्ति कराकर मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ।
लेकिन ऐसे पुरुष जो मुझे तत्त्वतः न जानकर अज्ञानी होते हैं
वे अपनी बुद्धि के कारण ही भवबंधन मे बार-बार पडते हैं।
क्योंकि ऐसा विधान है कि जो देवताओं को पूजता है
वह देवताओं को प्राप्त होता है।
इसी तरह पितरों का पूजक पितरों को प्राप्त होता है
भूतों का पूजक भूतों को प्राप्त होता है।
लेकिन जो मेरा भक्त है वह मुझको ही पूजता
और निष्काम भाव द्वारा मुझको ही प्राप्त होता।
अर्थात् वह भवबंधन में नहीं बंधता है
वह मेरे दिव्य धाम को जाता है।
हे अर्जुन! जो मेरा भक्त भक्तिभाव से कुछ भी अर्पित कर देता है
वही मुझे साकार रूप से ग्रहण होता है।
अतः तुम जब कोई कर्म करो भक्षण करो
हवन, दान, तप करो वह मुझे ही अर्पित करो।
इस प्रकार अर्पण भाव के उदय होने से संन्यास वृत्ति के होगे
तथा कर्म बंधनों से मुक्ति पाकर तुम भी मुझको प्राप्त होगे।
अतः जो जीव मुझे भक्तिभाव से स्मरण करता है
उसी में परमेश्वर प्रत्यक्ष निवास करता है।
अर्थात् जो भक्त मुझे निष्कपट भाव से है श्रद्धावत भजता
उसके हृदय में मैं ही प्रत्यक्ष रूप से विराजता।
यदि कोई दुष्टात्मा भी भक्तिभाव से मुझको स्मरण करता है
तथा नित्य निरंतर मेरा ही ध्यान किया करता है।
तो उसे सज्जन पुरुष ही जाना जायेगा
क्योंकि उसका भाव परमात्मा में और दृढ हो जायेगा।
और वह परमेश्वर के अतिरिक्त कुछ और नहीं भजता

वही सहृदय होकर मेरे परमपद को है प्राप्त करता।
तुम यह निश्चित जानो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता
छोटा-बड़ा कोई भी मेरी शरण में आकर भवबंधन से मुक्त हो जाता।
अतः हे कौन्तेय मनुष्य रूप में तुम मेरा ही स्मरण करते रहो
क्योंकि मनुष्य का शरीर भी सहज नहीं प्राप्त होता यह जान लो।
मनुष्य शरीर दुःखों का घर व क्षणिक भी है
इसको प्राप्त कर जो मेरा स्मरण नहीं करता वह अज्ञानी है।
और हाँ अर्जुन मृत्यु का समय भी निश्चित नही है
इसलिए तुम्हें मुझमें अपने मन को एकाग्र करते हुए भक्ति करना ही सही है।
इस तरह निरंतर तुम्हें मेरा ही स्मरण करना चाहिए
तथा निष्काम भाव से भक्ति के मार्ग पर चलना चाहिए।



दसवाँ अध्याय

विभूति योग

भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे कौन्तेय! आप मेरे प्रिय सखा हैं
इसलिए हम तुम्हें अपने संदर्भ में गूढ़ रहस्य बतलाते हैं।
मेरी माया को देवता, ऋषि आदि भी नही जानते
क्योंकि ये सब हमारे द्वारा ही है उत्पन्न होते।
अर्थात् जैसे किसी शिल्पकार द्वारा किसी वस्तु का निर्माण होता है
तो उस वस्तु को अपने रचनाकार का बोध कहाँ रहता है।
वैसे ही ब्रह्मा, इंद्रादि अन्य देवता भी मुझे नहीं जानते
क्योंकि ये सब तो मेरे ही द्वारा हैं उत्पन्न होते।
लेकिन जो पुरुष मुझे जन्म न लेने वाला
उत्पत्तिकर्ता व तत्त्व रूप से जानते हैं।
वही वास्तविक स्वरूप को जानने वाले
उन्हीं पुरुषों के सभी कलुष नष्ट हो जाते हैं।
मेरे ही संकल्प के कारण ब्रह्मा की उत्पत्ति हुयी
ब्रह्मा ने ही सप्त ऋषियो की रचना की।
सप्त ऋषियों से पूर्व चार निर्जन्म ऋषियों की रचना
देव, मनु, दानव, चौदह मनु सहित प्रजा की भी हुयी रचना।
ब्रह्मा आदि ने जो सृष्टि की रचना की
वह भी मेरे संकल्प के इच्छित हुयी।
जो पुरुप या जीव मुझ ईश्वर को तत्त्व रूप से जानता है
वह एकाग्र भाव से मुझमें ही अनुरक्ति रखता है।
हे कौन्तेय! जो मेरा भक्त होता है
वह सृष्टि का मूल हेतु अर्थात् मुझको जानता है।
और सृष्टि की जितनी भी गतिविधियाँ है
उन सबका कारक भी मुझको ही मानता है।

अत. हे अर्जुन! इस प्रकार श्रद्धाभाव से वह मुझ
परमतत्त्व का ही निरंतर चिंतन किया करता है।
तथा मुझमें ही संतुष्ट रहता है
वही श्रेष्ठ प्राणी कहलाता है।
अर्थात् ऐसा मेरा भक्त मुझमें ही समर्पित भाव रखता है
ऐसा ही भक्त मेरे द्वारा तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करता है।
हे अर्जुन! जब मेरा भक्त मुझे तत्त्व रूप से जानेगा
तब स्वयं उसके हृदय का अज्ञान-तिमिर दूर हो जायेगा।
इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने अपने वचनों को सुनाकर
अर्जुन के ज्ञान चक्षुओं को खोला।
तब अर्जुन के चित्त में भगवान् के प्रति श्रद्धाभाव
जागृत हुआ और फिर वह बोला।
आप ही परम ब्रह्म, परम धाम व परम मित्र
क्योंकि सभी ऋषि आपको ही अलौकिक देवों का भी देव बत
इसी प्रकार देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आदि
तथा स्वयं आप भी मुझे अपने संदर्भ में ऐसा ही बतलाते है।
मै भी उसी को सत्य मानता हूँ जो कुछ आप बतलाते हैं
आपके मायामय विग्रह को देवता व दानव भी नहीं जान पाते
हे जीवों के उत्पत्तिकर्ता आप ही सृष्टि को रचते हैं
हे पुरुषोत्तम आपकी माया को आप ही जानते है।
आप ही अपनी माया का वर्णन करने में सक्षम हैं
जिसके द्वारा आप सृष्टि को रचकर स्वयं उसमें उपस्थित हैं।
अब आप मुझे अपने तत्त्व का ज्ञान कराएँ
जिसको जानकर हम नित्य निरंतर बस आप ही में रम जाएँ।
आप अपनी योग माया व महान् ऐश्वर्यशाली स्वरूप को बताएँ
विस्तृत वर्णन करें कि आपको मैं किस-किस रूप में स्मरण क
मैं आपके अमृत रूप वचनों को सुनने का अभिलाषी हूँ
आपके स्वरूप को जानने का मैं जिज्ञासी हूँ।
भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि अब अर्जुन का जो भाव है
वह उनके मनोनुकूल होता जा रहा है।

तब उन्होंने कहा हे कौन्तेय! अर्जुन को,
अब तुम श्रवण करो मेरी माया को।
जिसका कि अनत विस्तार है
मेरी माया का कहीं अंत नहीं है।
सृष्टि में जितनी भी है चराचर काया
उनके हृदय में मैं आत्मस्वरूप से विराजता।
इन चराचर जीवों का आदि, मध्य अंत मैं ही हूँ
ऐसा तुम जानों यही मैं तुम्हें समझाना भी चाहता हूँ।
अदिति के बारह पुत्रों में मैं विष्णु रूप तथा प्रकाश रूप में सूर्य हूँ
उन चार प्रकार के वायु देवों में मैं मरिचि नाम वाला वायु देवता हूँ।
नक्षत्रों में नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा हूँ
इसी प्रकार वेदों में साम वेद इन्द्रियों में मन मैं ही हूँ।
जीवों में चेतना, ग्यारह रुद्रों में शिव व यक्षों में कुबेर हूँ
आठों वस्तुओं में अग्नि, श्रंग पर्वतों में सुमेरु पर्वत भी मैं ही हूँ।
पुरोहितों में देवगुरु बृहस्पति सेनाधिपतियों में स्वामी कार्तिकेय
जलाशयों में महोदधि, महर्षियों में भृगु और यज्ञों में जप यज्ञ।
उच्चारण में प्रणव, स्थावरों में हिमालय पर्वत
देवर्षियों में नारद, यज्ञों में जप यज्ञ व गंधर्वो में चित्ररथ।
सिद्धों में कपिल मुनि, हाथियों में ऐरावत
अश्वों में उच्चैश्रवा नागों में शेषनाग।
जल के जीवों मे उनका स्वामी वरुण और शशांकों में यम हूँ
पितरों में अर्यमा, गणनाओं में समय व पक्षियों मे गरुण हूँ।
पशुओं में मृगराज सिंह, पावनकर्ताओं में पवन हूँ
शस्त्रधारियों मे राम व मछलियो में मगरमच्छ हूँ।
नदियों में गंगा सृष्टि का पालनहार उत्पत्तिकर्ता
व संहारक भी और विद्याओं में अध्यात्म या परम विद्या।
विवाद कर्ताओं में तत्त्व निर्णय का वाद
अक्षरों में आकार समासों में द्वन्दु समास।
काल का काल भी मैं ही हूँ
अर्थात् महाकाल विराट स्वरूप भी हूँ।

सबका विनाशक अर्थात् मृत्यु भी मै ही हूँ
और उत्पत्तिकर्ता भी मै ही हूँ।
श्रुतियों में ब्रह्त्साम, छंदो में गायत्री
मासों में मार्गशीष व स्त्रियों में कीर्ति।
ऋतुओं में बसंत छलियों का हल
विजेताओं की विजय व बलशालियों का बल।
चंद्र वंशियों में वासुदेव स्थिर बुद्धि वालो की स्थिरता का भाव
पांडवों में धनंजय व सात्विकों में सात्विक भाव।
मुनियो में वेदव्यास दमनकर्ताओं में दंड शक्ति
कवियों में उसना व विजय के इच्छुकों में नीति।
गूढ़ता में मौन ज्ञानियों में तत्त्व ज्ञान भी मैं ही हूँ
सभी जीवों की जिससे उत्पत्ति होती है वह तत्त्व भी मैं ही हूँ।
क्योंकि सृष्टिगत चराचर जीवों की उत्पत्ति मेरे बिना संभव नहीं है
हे कौन्तेय! तुम्हारे चारों ओर जो भी कुछ है दिखता वह मुझसे ही है।
इस प्रकार सब कुछ मेरी ही माया या विभूति है
इसका कहीं अंत नही यह मैंने तुम्हे अपनी माया संक्षेपतः वर्णित की है।
इस सृष्टि में जो कुछ भी मायामय भासता है
उसमें मेरा ही अंश विद्यमान रहता है।
सार रूप में तुम इतना समझ लो कि इस सृष्टि को अपनी
माया के माध्यम से मैंने ही धारण कर रखा है।
अतः हे अर्जुन! ध्यानपूर्वक सुनो
जो भी कुछ तत्त्व रूप है उसे मुझसे ही जानो तो अच्छा है।



ग्यारहवाँ अध्याय
विश्वरूप दर्शन योग

भगवान् श्रीकृष्ण ने जब अपनी माया व विभूति का अर्जुन से वर्णन किया
तो उसके सभी संशय दूर हो गये और वह उनसे विनीत भाव से बोला।
हे भगवान् आपने अपनी माया का जो गुप्त भेद मुझे बतलाया है
आपने जो मेरा अध्यात्म विवेचन किया है।
उससे मेरा अज्ञान-तिमिर समाप्त हो गया है
आपके स्वरूप की गुण कीर्ति आपके मुखारबिंद से श्रवण किया है।
हे परम पुरुष! आप मुझे अपने
विराट स्वरूप का दर्शन कराएँ।
अपने उस ज्ञानमय ऐश्वर्ययुक्त, बलशाली,
तेजस्वी स्वरूप से मुझे अवगत कराएँ।
यदि ऐसे विराट रूप का दर्शन कर पाने में आप मुझे असमर्थ पाएँ
तो अपने अविनाशी आत्मस्वरूप का ही मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान कराऐं।
अर्जुन के इस प्रकार भावपूर्ण वचनों को सुनकर
भगवान् श्रीकृष्ण अब बोले।
आप मेरे विराट रूप में मेरे अनेक रूपों, वर्ण, आदित्यों,
आठ वसुओं तथा ग्यारह रुद्रों को देखें।
व दोनों अश्विनी कुमारों को उनचास मरुदगणों को
तथा अनेक रूपों को जिनको कभी पहले नहीं देखा है उनको भी देखो।
लेकिन उनको देखने के लिए हम तुम्हें दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं
क्यो कि इन चर्म चक्षुओं से उनका आप अवलोकन नहीं कर सकते हैं।
युद्धस्थल का इतना वर्णन करने के बाद
सजय ने धृतराष्ट्र से कहा हे महाराज!
भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से इस प्रकार बतलाए
और अपने विराट स्वरूप के दर्शन कराए।

हे राजन उन योग-योगेश्वर का विराट स्वरूप कैसा है सुनि
उनके अनेक मुख नेत्र हैं। उनका विराट स्वरूप अति विलक्ष
दिव्याभूषणों से युक्त है
उनके हजारों हांथो में दिव्यास्त्र सुशोभित हैं।
दिव्यमाला वस्त्रों को धारण किये हैं
शरीर पर दिव्यगंध का लेप किये हुए हैं।
भगवान् श्रीकृष्ण ने उस विराट व अलौलिक स्वरुप को दिख
अर्जुन ने इन दिव्य चक्षुओं द्वारा इनका दर्शन किया।
संजय बोला, हे महाराज! उन योगेश्वर के विराट स्वरूप के
के समक्ष हजारों आदित्यों का तेज भी मंद दीख पड़ता है।
अर्जुन ने उस बिराट स्वरूप में सभी लोकों व
स्वयं अपने को भी विराजमान देखा है।
इस प्रकार भगवान् के दर्शन कर अर्जुन पुलकित हो गया
योग योगेश्वर श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धाभाव से नतमस्तक हो गर
और करबद्ध होकर बोला, हे देवाधिपति श्री कृष्ण!
आपके इस विराट स्वरूप में देवताओं, प्राणियों व कमलासनार
ब्रह्मा, महेश्वर, ऋषि समुदाय व दिव्य सर्पों को
मै प्रत्यक्ष रूप से देख रहा हूँ इन सभी को।
हे जगदीश आपका अनंत रूप ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है
हे विश्वेश्वर! आपका आदि, मध्य व अंत कहीं नहीं दीख पड़त
हे विष्णु! किरीट, गदा, सुदर्शन चक्र से
आपका यह स्वरूप सुशोभित हो रहा है।
आपका यह प्रकाश रूप प्रज्ज्वलित अग्नि
व आदित्य से परिपूरित सब ओर व्याप्त हो रहा है।
संजय ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा हे महाराज
इस प्रकार श्रीकृष्ण का विराट स्वरूप देखने के बाद।
अर्जुन श्री कृष्ण से बोला, हे भगवान! परमावतार
आप ही परम ब्रह्म परमात्मा हैं मेरे परमाक्षर।
यह सृष्टि आप से ही है
आप ही धर्म के रक्षक अविनाशी, सनातन भी हैं।

अब मुझे विश्वास हो गया है
आपकी माया का आभास हो गया है।
आप मुझे आदि, मध्य, अंत रहित
अनत हाथों वाले असीम बल वाले भास रहे हैं।
आपके मुख से अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है
व सूर्य चन्द्र तो आपके नेत्र प्रतीत हो रहे हैं।
तथा आपके विशाल स्वरूप में सृष्टि तप्त हो रही है
पृथ्वी से स्वर्ग तक आप ही की काया दृष्टिगोचर हो रही है।
यहॉ तक कि सभी दिशाएं भी आप ही से हैं
आपके इस विराट प्रकाश रूप के कारण तीनों लोक परितप्त हैं।
अर्जुन बोला हे गोविन्द्र! देवगण भी आप मे समा रहे हैं
तथा कई अन्य भय कंवित होकर आपके नाम गुणों का बखान कर रहे हैं।
हे प्रभो! ग्यारह रुद्र, बारह सूर्य आठ वसु संतजन
विश्वेदेव, अश्विनी कुमार, मरुद्‌गण, पितर दैत्य गंधर्व सेन।
आदि सिद्ध पुरुष सभी विस्मय से आपको देख रहे हैं
महर्षि ऋषिगण आपकी स्तुति कर रहे हैं।
हे विशाल भुजाओं वाले आप परम प्रभु हैं
आपके हाथ, मुख, नेत्र, जंघा, पैर, उदर अनेक हैं।
दाढे बड़ी विकराल हैं
इन सभी को देखकर हमें होता भय का ख्याल है।
तथा हे श्री कृष्ण मेरे चित्त को शांति नहीं प्राप्त हो रही है
आपके प्रज्ज्वलित मुख को देखकर मेरी मति दिग्भ्रमित हो रही है।
अर्थात् मुझे दिशाज्ञान भी नहीं रहा
आपके इस विराट स्वरूप से मैं तृप्त हो गया।
अब मुझे भय भी लग रहा है
तो असहनीय ही होता जा रहा है।
अत हे भगवन! अब आप शीघ्र प्रसन्न हो जाएं
आपके इस स्वरूप में हैं सहस्त्रों देवतागण समाए।
मुझे धृतराष्ट्र के पुत्र सहयोगी राजाओं सहित
आपके मुख में प्रविष्ट होते दीख रहे हैं

भीष्म पितामह, द्रोण, कर्ण व हमारे पक्ष के अनेक योद्धागण भी
विराट रूपी मुख में समाते दिखलायी पड रहे हैं।
अनेक योद्धागण आपके दातो के मध्य चूर्णावस्था में दीख रहे है
अनेक वीरगण तो आपके मुख में अतिवेग से समाते जा रहे हैं।
जैसे अनेक नदियां वेगवती धारा के साथ समुद्र में समा जाती है
अथवा पतिंगों की मति दीपशिखा में भ्रमित हो जाती है।
और आप उन सबको श्वास के माध्यम से उदरस्थ कर रहे हो
हे प्रभो आप अपने इस तेज से सृष्टि को तप्त कर रहे हो।
अर्जुन बोला, हे उग्रस्वरूपी हे देव श्रेष्ठ आप हैं कौन?
अब आप शीघ्रातिशीघ्र शांत स्वरूप धारण कीजिए हे भगवन।
मैं आपको तत्त्व रूप से जानने का अभिलाषी हूँ
क्योंकि मैं आपके स्वभाव से मैं परिचित नहीं हूँ।
अर्जुन के इस प्रकार प्रार्थना करने व
पूछने पर भगवान् श्रीकृष्ण बोले।
हे अर्जुन! लोकों के विनाश के समय
हम ही हैं कालों के काल होते।
अर्थात् जब कल्पांत होती है
तब वह सृष्टि मुझमें ही समाविष्ट हो जाती है।
इस काल में भी उत्पन्न हुआ हूँ मैं विनाश के वास्ते
अतः यह दृढ़ बना लो कि तुम्हारी विरोधी सेना में।
जितने भी योद्धागण हैं क्या तुम्हारे युद्ध न
करने से वह जीवित ही बचे रहेंगे।
अर्थात् तुम युद्ध नहीं करोगे तो क्या वे
अपने विनाश से बच रहेंगे।
अतः हे पार्थ! तुम यशस्वी हो युद्ध के लिए तत्पर हो जाओ
शत्रु पर विजय पाकर इस धन धान्य पूरित भूमंडल के राज्य को पाओ।
ये सभी योद्धागण तो मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं
आप तो इनकी मृत्यु के लिए निमित्त मात्र चुने गये है।
अतः विजय प्राप्ति के लिए युद्ध करो
तुम्हारा एक ही धर्म है इसलिए तुम युद्ध करो।

द्रोणाचार्य, भीष्म, पितामह, जयद्रथ व कर्ण को मात दो
तथा अन्य अनेक वीरों को भी युद्ध भूमि में निर्भय होकर धराशायी कर दो।
धृतराष्ट्र को युद्ध भूमि का इतना वर्णन करने के बाद
सजय बोला कि हे हस्तिनापुर महाराज
कृष्ण द्वारा बार-बार प्रेरित करने पर
अर्जुन भय से कांपता हुआ भाव विभोर से बोला करबद्ध होकर।
हे सर्वांतर्यामी! आपके कारण ही इस सृष्टि का अस्तित्व है
आपके विराट रूप में ही भयंकर राक्षस दिग्भ्रमित हैं।
आप ही आदि करणीय हैं
सिद्ध पुरुषों द्वारा आप वदनीय है।
तब देवादि देव भी आपको ही वंदन करते हैं
क्योकि आप में ही अनंत देवेश्वर समाहित होते हैं।
हे भगवन्! आप ही अधिदेव
सदा विद्यमान रहने वाले सनातन पुरुष हैं।
आप ही सृष्टि के अतिम आश्रय सृष्टि के भेद को जानने वाले
चितनीय परम पदस्वरूप हैं।
हे अनतारूप! यह सृष्टि आप ही से पूरित है
यम वायु, वरुण, अग्नि, चन्द्रमा, प्रजापति आदि आप ही में समाहित हैं।
हे परम प्रभु आपको नमस्कार है
नमस्कार है पुनः नमस्कार है।
हे अनंत शक्ति से सम्पन्न आप ही सर्वस्व हैं
आपको सब ओर से नमस्कार है।
हे प्रभो! अभी तक मैं
आपकी महिमा से अनभिज्ञ था।
इसीलिए मैत्रीभाव के कारण मैंने आज तक आपको हे कृष्ण हे यदुवंशी
हे सखे हे ग्वालवंशी आदि से जो संबोधित किया था।
जो भी जाने अनजाने में आपके प्रति अपराध कर डाला
उन सभी अपराधो को क्षमा करें विधाता।
हे विश्वरूप आप तो सृष्टि के स्वामी हैं
गुरुओं के भी गुरु परम पूजनीय हैं।

हम आपके प्रसन्नतार्थ आपकी वंदना करते हैं
आप भी मेरे अपराधों को क्षमा कर दें हम आपको नमन करत
आप मेरे अपराधों को वैसे ही क्षमा कर दें जैसे पिता अपने पु
मित्र अपने घनिष्ट मित्र के पति अपनी पत्नी या प्रिया के।
सभी अपराधों को क्षमा कर देता है
हे सर्वव्यापी आप जैसा रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा है।
इसलिए मै बिल्कुल विस्मित हो गया हूँ
साथ ही आपके इस रूप में दर्शन करके पुलकित हो रहा हूँ
और भय के कारण मेरे मन में व्यग्र भी हैं आए
अतः आप प्रसन्न होकर मुझे अपने चतुर्भुज रूप का दर्शन क
हे देव! हे जगतपति। अब आप प्रसन्न हो जाइये
हे प्रभो मेरी अभिलाषा एक बार आपको किरीट धारण किये।
गदा, चक्र, शंख, पद्म हाथ में लिए हुए देखने की है
हे सृष्टिपती! आप ही परम पुरुष व आप ही परमात्मा भी है
आप मात्र एक बार अपने उसी चतुर्भुज रूप का दर्शन कराए
यह मेरी आप से प्रार्थना है जिससे हम कृत्य-कृत्य हो जाये
इस प्रकार अर्जुन द्वारा दैव्य भाव से
की गई प्रार्थना को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले।
हे अर्जुन! मेरे जिस विराट रूप का जो तुमने दर्शन किया
वह सहज सुलभ नहीं प्राप्त होते।
मेरे इस रूप का दर्शन करने के लिए देवता
ऋषि मुनि भी अभिलाषित होते हैं।
लेकिन उनमें से सिर्फ किसी-किसी
को ही इस स्वरूप के दर्शन हो पाते हैं।
इस सृष्टि में जो जीव.जप-तप, दान, यज्ञादि कर्म करते है
उन्हें भी इस रूप के दर्शन दुर्लभ होते हैं।
मेरे इस विश्वरूप के कारण तुम व्यग्र न होओ
अपने मन में कोई मूढ़ता न लाओ।
तुम्हारा भय दूर हो जाने के बाद मैं अपना आत्मसात कराता
अतः अब मैं तुम्हें अपने चतुर्भुज रूप के दर्शन कराता हूँ।

ताकि तुममें जो आस्था है वह प्रगाढ़ हो जाए
तुम जैसे पथिक का मेरे द्वारा कल्याण हो जाए।
तदोपरांत संजय बोला हे राजन इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण
अर्जुन को सांत्वना देकर अपने चतुर्भुज रूप का दर्शन करा रहे है।
श्रीकृष्ण का वह चतुर्भुज रूप बड़ा ही सौम्य है
जिसकी कि अनुभूति करके हम भी धन्य हो रहे हैं।
चारो हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म व शीश पर किरीट सुशोभित है
और उनके अंग पर पीताम्बर है और अंग कांति श्यामलित है।
सजय बोला हे राजन!
भगवान के सौम्य रूप का दर्शन करते हुए अर्जुन बोला हे भगवान।
आपके इस परम सौम्य रूप का दर्शन करके हम धन्य हो गये
इसी के द्वारा हम परम शांति को प्राप्त हो गये।
अब श्रीकृष्ण बोले इस रूप का दर्शन वही कर सकता है
हे अर्जुन जो मुझे तत्त्व रूप से जानता है।
तथा एकांत भाव से मेरी भक्ति में लीन रहता है
और मेरे प्रति विशेषरूप से समर्पित भाव रखता है।
जो प्राणी यज्ञ, दान, जप, तप आदि
जो कुछ भी करता है उन्हें मुझे ही समर्पित कर देता है।
मेरे ही नाम गुण, तत्त्व का श्रवण, गान, ध्यान व
आसक्ति रहित भाव से निरंतर मेरा ही होकर रहता है।
तथा सांसारिक माया मोह में वह नहीं रमता है
ऐसा ही भक्त मुझे प्यारा है जो मेरे परमपद को प्राप्त करता है।

■

बारहवाँ अध्याय

भक्ति योग

अर्जुन बोला हे मनोहारी प्रभु! कुछ भक्त आपके
सगुण रूप की उपासना करते हैं।
और कुछ निर्गुण की अर्थात् कुछ भक्त आपके
विग्रह की धूप-दीपादि से पूजा करते हैं।
तथा उसी में उनकी आस्था होती है
परतु कुछ लोगों की भक्ति इस प्रकार होती है।
वे आपको तत्त्व रूप से जानकर नित्य निरतर
आपका ही स्मरण किया करते हैं
इस प्रकार इन दोनों भक्तों में से कौन श्रेष्ठ होते हैं।
अर्जुन का संशय दूर करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बोले
हे कौन्तेय! अब इसकी तुम्हें हम पूरी बात हैं बताते।
ऐसे भक्त जो एकाग्र भाव से मेरे सगुण रूप के उपासक हैं
मुझे योगनिष्ठ भक्तों से भी अधिक प्रिय हैं।
अन्यथा जो भक्त इन्द्रियों का निग्रह करके
मन बुद्धि से पृथक् रहकर के।
मुझ निराकार, विनाशरहित, सत्य, आनंद स्वरूप ब्रह्म का
नित्य निरंतर ध्यान करते हुए द्वैतभाव से पृथक् रहते हैं।
ऐसे योगनिष्ठ भक्त भी मुझे प्रिय हैं
और हे अर्जुन! ऐसे भक्त मुझमे ही समा जाते है।
अर्थात् जब तक अहभाव व्याप्त होती है
तब तक मेरे सत्य स्वरूप मे उनकी वृत्ति नहीं रहती है।
क्योकि अहंभाव के कारण मन स्थिर नहीं हो पाता
उनकी भटकाव की स्थिति से ही यह दोष होता।
जो भक्त मेरे प्रति समर्पित रहते है

तथा शुभाशुभ कर्मों को भी मुझको ही अर्पण कर देते हैं।
और नित्य निरंतर मेरे ही स्वरूप में ध्यान लगाए रहते हैं
ऐसे भक्त निश्चित ही मेरे द्वारा मोक्ष को पाते है।
इसलिए तुम भी अपने चित्त को मेरे प्रति ही स्थिर करो
इससे तुम मुझको ही प्राप्त होगे इसमें शंका मत करो।
यदि चित्त को मुझमें स्थिर कर पाने में स्वयं को असमर्थ समझते हो
तो योग अभ्यास के माध्यम से मुझे प्राप्त कर सकते हो।
यदि योग अभ्यास का साधन भी न कर सको तो कर्तव्य परायण हो जाओ
अर्थात् यज्ञ, जप, दान, आदि के शुभकृत्यों को मुझको समर्पित कर दो।
क्योंकि तत्त्व को न जानते हुए भी
अभ्यास करने से श्रेष्ठ परोक्ष ज्ञान होता है।
अर्थात् मेरी महिमा का श्रवण, शास्त्रों का अध्ययन
करने से मुझ परमात्मा का जो ज्ञान प्राप्त होता है।
वही परोक्ष ज्ञान कहलाता है
जो व्यक्ति को परमानद में ले जाता है।
इस परोक्ष ज्ञान से भी उत्तम मेरे स्वरूप का ध्यान करना है
और ध्यान करने से भी श्रेष्ठ काम निष्काम कर्म करना है।
इस तरह निष्काम कर्म करने से आनंद की अनुभूति होती है
निष्काम कर्म इसलिए सबसे श्रेष्ठ होता है।
क्योंकि भगवान् के निमित्त कर्म करने से
प्रीति व श्रद्धा का भाव जागृत होता है।
इसलिए ध्यान से अधिक श्रेष्ठ निष्काम कर्म है
जिससे निरंतर भगवान् का मनन होता रहता है।
इस प्रकार जिसमें द्वैत भाव नही है
जिसे किसी से कोई स्वार्थ नहीं है।
मोहरहित सुख दुःख में भी सम दयाभाव से युक्त
योग में लीन रहने वाला क्षमाभाव से युक्त।
हानि लाभ से विचलित न होने वाला
मानव इन्द्रियों का निग्रह करने वाला।
दृढ़ मन-बुद्धि वाला जो मेरा भक्त होता है

वही मुझे ऐसा भक्त परम प्रिय होता है।
जो किसी को पीडा न पहुँचाता हो
जो प्रसन्नता, द्वेष, भय व उद्वेग आदि से विचलित न हो।
वह भक्त भी मुझे प्रिय होता है
वही मोक्ष को भी प्राप्त कर पाता है।
जिस पुरुष की कोई कामना न रही हो
अर्थात् वह कामना रहित हो।
जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो
तथा नित्य धर्म-कर्म करता हो।
जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सृष्टि में आया हो
वह उसी कृत्य को करने के लिए रमा हो।
जो किसी से भेदभाव न करता हो
प्रारब्ध वश किये जाने वाले कर्मों में जिसकी आसक्ति न हो।
वह भक्त या परम पुरुष मुझे प्रिय होता है
वही कामना रहित होकर शुभाशुभ कर्मफलों को करता है।
जो मान अपमान में समबुद्धि रखने वाला
शीतोष्ण सुख दुःख में भी सम रहने वाला।
सांसारिक प्रपंचों से रहित निंदा व स्तुति से सम रहने वाला
नित्य भगवान् वासुदेव के ध्यान में लीन रहने वाला।
मेरे प्रति श्रद्धाभाव रखने वाला
हर परिस्थिति में संतुष्ट रहने वाला।
शास्त्र, संतजनों, गुरुजनों के वचनों में विश्वास रखने वाला
तथा धर्म का अमृत रूप से निष्काम होकर सेवन करने वाला।
वही मुझे सर्वाधिक प्रिय होता है
तथा वही मेरे परम पद को प्राप्त कर पाता है।

■

तेरहवाँ अध्याय

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

अर्जुन को भक्ति योग का उपदेश देने के बाद
भगवान् श्रीकृष्ण बाले हे सखा।
इस भौतिक शरीर को क्षेत्र कहा जाता है
और जो इस क्षेत्र को जान जाता है।
उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं
ऐसा तत्वज्ञ कहते हैं।
क्योंकि सामान्यतः क्षेत्र का तात्पर्य खेत से होता है
जिसमें जैसा बीज बोया जाता है उसमें वैसा ही फल प्राप्त होता है।
उसी प्रकार इस भौतिक शरीर में भी जीव जैसा कर्म करता है
वैसा ही उसे फल मिलता है।
इसलिए इसे क्षेत्र की उपमा दी गयी है
और जो पुरुष इस क्षेत्र का मर्म जान जाता है।
उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं इस क्षेत्र
को ही प्रकृति पुरुष कहा जाता है।
प्रकृति इसलिए कहते है कि शरीर की रचना
पचतत्त्वों से हुयी है और पुरुष उस तत्त्व को कहते हैं।
जो जीव रूप से इस शरीर द्वारा किये जाने वाले
कृत्य-अकृत्य कर्मो का स्वामित्व भाव से अवलोकन करते हैं।
इस तरह जो क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) होता है
वह तत्त्व मेरा ही प्रतिरूप होता है।
इस पर तुम्हें हृदय से विश्वास करना है
यह मैंने तुम्हें अक्षरसः सत्य कहा है।
हे कौन्तेय! क्षेत्र का अस्तित्व किन विकारों के कारण है
और क्षेत्रज्ञ का क्या महत्त्व या प्रभाव है।

इस संदर्भ में सक्षेप्तः तुम्हें बतलाता हूँ
क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को मनीषियों ने जिस प्रकार से सुझाया है तु
वेदों में जिसे अनेकों भाँति से कहा गया है
ब्रह्म सूत्रादिकों में तो प्रमाणों सहित इनका वर्णन किया
हे अर्जुन! उसी क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को अब तुम्हें सुनाता हूँ
पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, पृथ्वी के सूक्ष्मभाव के बारे
दस इन्द्रियाँ कामना सुख दुःख व द्वेष
पिंड चेतना धृतसमेत स्थूल देह।
आदि से ही क्षेत्र या शरीर रचित होता है
और जो इनके स्थल, इच्छादि व विकारों को जान लेता
वही क्षेत्रज्ञ या परमज्ञानी कहलाता है
उसी पुरुष में मुझे तत्त्व से जानने का भाव प्राप्त होता है
हे अर्जुन! अध्यात्म ज्ञान, यानि की
ज्ञान और अज्ञान क्या है अब उसे समझाता हूँ।
जिस ज्ञान द्वारा आत्म व अनात्म वस्तु का
अर्थ ज्ञात हो उसे ही अध्यात्म जताता हूँ।
उपरोक्त जितने साधन बतलाए गये हैं वह सभी
तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में सहायक होने के कारण ज्ञान है।
इसके अतिरिक्त मान, दंभ, हिंसा आदि जो
अज्ञानता बढ़ाने वाले हैं वह अज्ञान है।
जिस तत्त्व को जानना चाहिए और जो जानने योग्य भी
ऐसा वह तत्त्व या ज्ञान अनादि है।
उसी तत्त्व को ब्रह्मस्वरूप, ब्रह्माक्षर आत्मतत्व कहते है
वह जीव से पृथक् सत्य स्वरूप होते है।
वही तत्त्व पुरुष के हाथों पैरों नेत्रों
शीश, मुख कर्ण में व्याप्त होती है।
अर्थात् इन सब अंगों की क्रियाएं
उस तत्त्व के प्रभाव से ही क्रियान्वित होती हैं।
जैसे पंच महाभूतो में से आकाश शेष चार महाभूतों
अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी का मूल होकर व्याप्त रहता है।

वह तत्त्व अर्थात् आत्मा इन्द्रियों का प्रकाशक
होकर भी सदैव इन्द्रियों से पृथक् रहता है।
तथा सत्व, रज व तम आदि
त्रिगुणों से रहित होकर भी।
प्रकृति द्वारा जीवों का धारण पोषणकर्ता
व त्रिगुणों का हृदय से भोक्ता।
वही परमतत्त्व जिसे आत्मा कहा जाता है
अर्थात् चराचर जीव भी उसी मे व्याप्त होता है।
लेकिन वह परम तत्त्व अतिसूक्ष्म होने के कारण
सामान्य जीवों के द्वारा जाना नहीं जा सकता है।
जिस प्रकार भगवान भास्कर की
रश्मियों में जल सूक्ष्म अंश में व्याप्त रहता है।
बह तत्त्व सभी जीवों में तथा सृष्टि के कण-कण में
व्याप्त होने के कारण अति निकट भी होता है।
लेकिन जिन जीवों की इसमें आस्था नहीं होती
उनके लिए यह अति दूर होता है।
यह आत्मतत्त्व आकाश की भांति है
जीव का मूल कारण होने से सर्वव्यापी है।
फिर भी प्रत्येक जीव में अलग-अलग रूप से प्रतिभासित होता है
यही वह तत्व है जो विष्णु रूप से सबका पालन करता है।
शिवरूप से संहार करता है
और ब्रह्मरूप से सबकी रचना करता है।
वही आत्मतत्त्व महाज्योति व त्रिगुणमयी माया से पृथक है
वह आत्मतत्त्व ज्ञान स्वरूप होने के कारण जानने योग्य तत्व है।
उसकी प्राप्ति तत्व का ज्ञान होने से ही हो सकती है
और आत्मा हृदय में रहती है।
जो चर्म चक्षुओं द्वारा नहीं जानी जा सकती है
इसके लिए दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता होती है।
कार्य और कारण की उत्पत्ति का मूल कारण भी प्रकृति है
और यहाँ धरातल पर जितने भी सुख दुःख हैं।

उन्हें जीवात्मा भोगता है
परम आत्मा इनसे निर्लेप रहता है।
अब कार्य और करण क्या है? वह सुनो
पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि और वायु को पंचमहाभूत मानो।
हे अर्जुन! जो मेरी त्रिगुणमयी माया में लिप्त रहता है
अर्थात् सांसारिक विषय भोगों का ही मन से चिंतन किया कर
उसका भावी जन्म भी उसी प्रकार होता है
अर्थात् सत्व गुणी पुरुष देव योनि पाता है
रजोगुणी पुरुष मानव योनि पाता है
और जो गुणी पुरुष तमोगुणी हो जाता है।
वह पशु पक्षियों की तिर्यक योनि पाता है
परंतु परमतत्त्व शरीर में रहकर भी त्रिगुणों से निर्लेप रहता है
यह जीवात्मा के भले बुरे कामों को देखने वाला
सत्य असत्य का ज्ञान कराने वाला कर्मों को भोगने वाला।
ब्रह्मादि का भी अधिपति होने से महेश्वर व निर्मल
सत्य रूप आनंद प्रदाता होने से परमात्मा कहलाता है।
अर्थात् भौतिक देह में स्थिर रहकर आत्मा अपने
सहायक जीव से नानाविध कर्म-अकर्म कराता है
तथा स्वयं दृष्टा होकर निर्लेप रहता है
जो जीव पुरुष और प्रकृति के भेद को तात्त्विक दृष्टि से जान
वह अच्छे बुरे कर्म करके भी मोक्षपद को पाता है
और अपने आगामी जन्म में भी सुख भोगता है।
जो जीव पुरुष को मोक्ष से जान लेता है
वही मोक्ष का अधिकारी भी होता है।
हे कौन्तेय! पुरुष तत्त्व को जीव नाना भांति से ध्याता है
अर्थात् कोई तो पवित्र मन से पुरुष स्वरूप का हृदय में ध्यान
कोई ज्ञान योग के द्वारा ध्याता है
अर्थात् वेद-पुराण आदि का नित्य अध्ययन करता है।
कोई कर्मफल का त्याग करके ध्याता है
तो कोई तत्त्वार्थ को समझकर पुरुष तत्त्व का ध्यान करता है

ऐसा जीव ज्ञानियों के मार्ग का पालन करता हैं
उन्ही के अनुसार श्रद्धाभाव से सद्कर्म करता है।
और जो जीव मेरी महिमा का श्रवण करता है
वह भी भवबंधन से मुक्त हो जाता है।
अतः हे कुंती पुत्र अर्जुन! सृष्टि में जो भी कुछ प्रतीत है
वह सब शरीर व जीव के संबंधों का ही परिणाम है।
जब तत्त्व का ज्ञान जीव को हो जाता है
तो उसमें द्वैतभाव का अभाव हो जाता है।
वह सृष्टि में सर्वत्र मेरे ही स्वरूप का दर्शन करते हैं
अर्थात् वह जान जाते हैं कि भले बुरे कर्म माया द्वारा ही उत्पन्न होते हैं।
और कर्म का कारक तो जीव होता है
ऐसा जानकर जो भी ईश्वर की इच्छा को मानता है।
वह ब्रह्मस्वरूप को जानकर मोक्ष को पाता है
हाँ ऐसा ही भक्त मुझे प्रिय होता है।
इस शरीर में स्थित आत्मा सनातन है
सत्य त्रिगुणों से पृथक् होने के कारण।
ही शरीर में रहकर भी इंद्रियों के कर्मों में लिप्त नहीं होता है
जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है या सभी जगह दिखायी पड़ता है।
लेकिन यह पृथ्वी से पृथक् ही है
यह पृथ्वी से कभी भी नहीं मिलता है।
वैसे ही सत्य, अनादि आत्मा भी
प्रकृति गुणों से पृथक् ही रहता है।
हे अर्जुन! जैसे समूची सृष्टि में एक ही
सूर्य का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त रहता है।
वैसे ही सृष्टिगत सभी जीवों स्थावरों जंगमों में
एक ही आत्म तत्त्व का प्रकाश आलोकित होता है।

चौदहवाँ अध्याय

गुणत्रय विभाग योग

भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे कुंती पुत्र!
अब हम तुम्हें पुनः उस तत्त्व का ज्ञान कराते है।
जिसको जानकर अनेक ऋषि-मुनि
भवबंधन से मुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं।
हे कौन्तेय! जो मुझे स्वरूप से जान जाता है
तथा स्वयं को भी तदनुरूप बना लेता है।
उसका सृष्टि में जन्म नहीं होता है
और न ही ऐसा जीव कल्पात में बाधाओं से विचलित होता है।
क्योंकि वह जो कुछ देखता है
उसमें उसका वासुदेवमय भाव होता है।
हे अर्जुन! हम ही ब्रह्म स्वरूप हैं
और मेरी त्रिगुणमयी माया योनि स्वरूपा है।
इसलिए मायारूपी योनि में मैं ही चेतन तत्त्व को सृष्टि के
प्रारंभ में बीज रूप में चयनकर जीवों की उत्पत्ति करता हूँ।
अर्थात् जड़ चेतन या प्रकृति पुरुष के मिलने से ही जीवों की
उत्पत्ति होती है जब कल्पांत होता है तब मैं ही सृष्टि को उदरस्थ कर लेता हूँ
हे कौन्तेय! इस तरह नाना भाँति के
जीवो को धारण करने के कारण से।
प्रकृति है माता स्वरूप
और बीज का चयनकर्ता होने से मैं हूँ पिता रूप।
हे अर्जुन! इस भौतिक देह में रहने वाला
सांसारिक सुखो को भोगने वाला।
सत्व, रज व तम गुण से जब संबंध बना लेता है
तभी वह शारीरिक क्रियाओं के बंधन में बँधता है।

हे अनघ! तीनों गुण किस प्रकार जीवात्मा को बंधन में बांधते हैं
अब आप यह सुनें जिसे हम बतांते हैं।
सतोगुण विकार रहित पवित्र व प्रकाशक होने के कारण जीवात्मा को
ज्ञान प्राप्ति के बाद ज्ञान के ही गर्व से आबद्ध करता है।
रजोगुण के कारण जीवात्मा में तेरा-मेरा, अपना-पराया,
आपसी संबंधों का भाव उत्पन्न होता है।
वह माता-पिता, बहन-भाई, मित्र आदि से संबंध जोड़कर
उन्हीं के मोहपाश में लिप्त रहता है।
और उन्हीं के निमित्त भले-बुरे कर्मों को करता है इस प्रकार
रजोगुण भी जीवात्मा को बाँधने वाला होता है।
अब तमोगुण जीवात्मा को कैसे आबद्ध करता है
वह सुनो तमोगुण अज्ञानता के कारण उत्पन्न होता है
उसकी उत्पत्ति से जीवात्मा में प्रमाद आलस्य
निद्रा, प्रभु विस्मृति आदि भाव उत्पन्न होते हैं।
जिनके वशीभूत होकर जीवात्मा करणीय कर्मों से
हीन होकर पशुवत् जीवन व्यतीत करने लगते हैं।
हे अर्जुन! इस तरह प्रकृति के तीनों गुण जीवात्मा को
आबद्ध करके सृष्टिगत क्रिया-कलापों की ओर प्रेरित करते हैं।
सत्त्वगुण जीवात्मा को सुख की ओर रजोगुण कर्म की ओर
तथा तमोगुण प्रमाद की ओर प्रेरित करते हैं।
हे कौन्तेय! ये तीनों ही गुण न्यून व अधिक होती रहती है
जिनकी अनुभूति भी जीवात्मा को होती रहती है।
रजोगुण व तमोगुण जब न्यून होते हैं
तब सतोगुण बढ़ जाते हैं।
रजोगुण व सतोगुण की न्यूनता से तमोगुण की वृद्धि होती है
और तमोगुण व सतोगुण की न्यूनता होने पर रजोगुण की वृद्धि होती है।
अतः जब इस शरीर, हृदय व इंद्रियों में चेतन तत्त्व सक्रिय होता है
तब योगी पुरुष के शरीर में सतोगुण अभिवृद्ध होता है।
लोभी जीवात्मा सृष्टिगत कर्मों में लिप्त होती है
तथा उसमे स्वार्थ भाव की प्रबलता होती है।

चित्त चलायमान होकर विषय भोगों की ओर उन्मुख हो जाता है
लेकिन जब तमोगुण अभिवृद्ध होता है तब चित्तमलीन हो जाता है।
हे कौन्तेय! जीवात्मा जब देह का परित्याग करता है
तब ऐसी स्थिति में जो गुण प्रबल होता है।
उसी के अनुसार उसकी योनि का निर्धारण होता है
अर्थात् उसे उस गुण के आधार पर ही अगला जन्म मिलता है।
जैसे मृत्युकाल में सतोगुण की प्रबलता रहती है
तो ऐसी जीवात्मा स्वर्ग को प्राप्त होती है।
रजोगुण की प्रबलता के कारण मध्यम योनि
अतः पुनः भू लोक में जन्म पाता है।
तथा तमोगुण की प्रबलता के कारण
अधोयोनि अर्थात् पाताल को प्राप्त करता है।
क्योंकि सतोगुणी कर्म करने से सात्विक
कर्मफल आदि की प्राप्ति होती है।
रजोगुणी कर्म करने से राजसी
कर्मफल की प्राप्ति होती है।
इसी तरह तमोगुणी कर्म करने से
तामसी कर्मफल की प्राप्ति होती है।
सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ
व तमोगुण से अज्ञान की उत्पत्ति होती है।
अतः जो जीवात्मा सतोगुणी होता है
वह स्वर्गादि दिव्य लोकों में वास करता है।
रजोगुणी जीवात्मा भूमंडल पर मनुष्य रूप में वास करता है
तथा तमोगुणी जीवात्मा इसी भूमंडल पर कीट पशुओं में जन्म लेता है।
जो जीवात्मा सृष्टि के सभी जीवों में सम दृष्टि रखता है
तथा त्रिगुणों को त्रिगुणों मे ही बरतता देखता है।
अर्थात् इन्द्रियो को अपने-अपने विषयों में लिप्त होता देखता है
तथा त्रिगुणों से परे मेरे सत्य स्वरूप का चिंतन करता है।
वह तेईस तत्त्वो के इस भौतिक या स्थूल शरीर के
उत्पत्तिकारक सत्व, रज, तम गुणों का विच्छेद करके।

मेरे ही समान दिव्य देह प्राप्त करता है
व मेरे परमपद में वास करता है।
भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों को सुनकर
अर्जुन ने प्रश्न किया हे पुरुष श्रेष्ठ मान्यवर।
त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण क्या हैं
उसके आचरण के बारे में बताइये क्या है।
त्रिगुणों से मुक्ति पाने का साधन क्या है
मुझे बताइये इन सबका मर्म क्या है।
अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए
भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे कौन्तेय।
जो पुरुष सतोगुण के प्रतीक प्रकाश को
रजोगुण के प्रतीक रूपों में लिप्त होने को।
तमोगुण के प्रतीक मोह को प्रवृत्ति रूप मे हेय नही समझता
तथा निवृत्ति रूप में कभी इनकी कामना नहीं करता।
अर्थात् जो पुरुष परमतत्त्व में लीन रहकर
त्रिगुणमयीमाया से निर्लेपित होकर।
तथा जिसके चित्त में त्रिगुण प्रतीक प्रकाश
प्रवृत्ति व मोहादि के प्रत्यक्ष आभास।
होने या न होने पर राग-द्वेषादि विकार उत्पन्न नहीं होते
ऐसे पुरुष त्रिगुणों से कभी प्रभावित नहीं होते।
उनका मत होता है कि त्रिगुणमयी शरीर की
सभी क्रियाएँ त्रिगुणों द्वारा स्वतः होती रहती हैं।
वह इन इंद्रियों के क्रियाकलापों से विमुख होकर
परम ब्रह्म के ध्यान में लीन रहती है।
यह त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण होते है
अब उसका आचरण बताते हैं।
त्रिगुणातीत पुरुष आत्मा में प्रवृत्त रहता हुआ सुख का अनुभव नहीं करता
उनके लिए पाषाण, मृत्तिका, स्वर्ण में कोई भेद नहीं होता।
वह धैर्यशील होता है तथा प्रिय व अप्रिय को समभाव से देखता है
प्रशंसा व निंदा के कारण कभी विचलित नहीं होता है।

वह कर्तापन के भाव से भी सर्वदा निर्लेप रहता है
अहंभाव का उसमें लेशमात्र भी अंश नहीं रहता है।
इस तरह के आचरण वाला पुरुष नित्य-निरंतर
एक मुझको ही परम सत्तावान मानकर।
जो मेरा ही स्मरण करता है
वह सभी का लंघन करके ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है
हे अर्जुन! परमब्रह्म, अमृत, परमानंद
नाशरहित, सनातन धर्म, एकाग्रता का आनंद।
आदि जो कुछ भी है
वह सब हम ही हैं।
अर्थात् ये सब मेरे कारण होते हैं
जिनके सिर्फ हम ही मूल होते हैं।
अर्थात् सृष्टि में व सृष्टि से परे भी जो तत्त्व विद्यमान है
वह भी करता मेरा गुणगान है।
'अतः सबका मूल हेतु मैं ही हूँ।'

■

पंद्रहवाँ अध्याय

पुरुषोत्तम योग

भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे अर्जुन!
यह संसार एक ऐसा विनाश रहित पीपल वृक्ष है।
जिसकी जड़ें तो उर्ध्वगामी हैं और
शाखाएँ अधोगामी तथा वेद पत्ते है।
जो जीवात्मा इस भव रूपी वृक्ष के कर्म को जान लेता है
वही वेद विज्ञ कहलाता है वही वेद का रहस्य जान पाता है।
अर्थात् भव का मूल कारक परमतत्त्व या ईश्वर उर्ध्व की ओर
साकार रूप से वास करने के कारण उर्ध्व कहलाता है।
वही इस ससार रूपी वृक्ष का,
हेतु होने के कारण उर्ध्वमूल वाला कहलाता है।
ब्रह्मा ही इस संसार का विस्तारक होने के कारण
संसाररूपी वृक्ष की अधः शाखाए हैं
इस वृक्ष को विनाशरहित इस िए कहा गया है कि
सृष्टि का नूल हेतु परभब्रह्म ए.वं विनाश रहित हुए हैं।
यह सनातन वेद है जो ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न हुए हैं
तथा ज्ञानादि कर्म भी वेदों से ही निसृत हुए है।
जिनसे संसार रूपी वृक्ष को
सुरक्षा वृद्धि व शोभा बढ़ती है।
अतः वेदों को इस संसार रूपी
वृक्ष के पत्तों की संज्ञा मिलती है।
हे अर्जुन! इस संसार रूपी वृक्ष की
शाखाओं की कोपलें विषय लोक होते हैं।
क्योंकि शब्दरूप, रसगंध, स्पर्श आदि
शरीर व इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म कहलाते हैं।
इसी प्रकार देव मनुष्य व पशु पक्षी आदि की योनियाँ

इसकी शाखाएँ हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति भी ब्रह्मा द्वारा ही होती है।
हे अर्जुन! अहकार, ममता वासनारूपी जडें
मनुष्य शरीर में ही बधन कारक होती हैं।
क्योंकि मनुष्य शरीर में ही नये कर्मों का करना भी संभव होता है
लेकिन तिर्यक योनियों में जीव विगत जन्मों के कर्मों का ही फल भोग
नये कर्म करने का उसे अधिकार नहीं होता है
यह सब परमब्रह्म के ही इच्छित होता है।
अहंकार ममता वासनारूपी
जडें भी हैं सर्वव्यापी।
हे अर्जुन! इस संसार रूपी वृक्ष का जैसे वर्णन शास्त्रादि में किया गय
वैसा तत्व ज्ञान होने पर यह भासता नहीं है।
क्योंकि न तो इसका प्रारंभ ही होता है
और न ही अंत ही होता है।
और पल में नाश होने वाला भी कहा गया है
ऐसे संसार रूपी वृक्ष की जड़ों को अहंकार ममता व वासना बताया ग
वैराग वृत्ति रूपी शस्त्र से कटाकर
अर्थात् इनका त्याग कर।
परम तत्व को भली प्रकार खोजना चाहिए।
व इसके मूल तक मे प्रविष्ट करना चाहिए।
इसकी प्राप्ति होने के बाद जीवात्मा पुनः सृष्टि में नहीं जन्मता
और जो जीवात्मा यह भाव रखता है कि जो इस सृष्टि में पैदा होता
वह सृष्टि रूप प्राचीन वृक्ष की भगवान् वासुदेव की दया से पैदा होत
उन्हीं की शरण ग्रहण करता है और वह उन्हीं के बताये मार्ग पर चल
फिर उस जीव की मोहमाया में आसक्ति नहीं रहती है
तथा जिनकी नित्य निरंतर प्रभु स्मरण में ही वृत्ति रहती है।
और जिनकी कोई इच्छा भी नहीं होती है
ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष को निश्चय ही दिव्यधाम की प्राप्ति होती है।
हे अर्जुन! वह मेरा दिव्य धाम कैसा है हम सुनाते हैं
उस दिव्य धाम की तुलना हजारो करोड़ों सूर्यों के प्रकाश से भी नही कर
तब चन्द्रमा व अग्नि का प्रकाश उस

दिव्यधाम से कैसे समता रख सकता है।
ऐसे मेरे उस प्रकाशमय धाम में जो जीव चला जाता है
वह पुनः जन्म न लेकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।
सृष्टिगत जीवों में जो आत्मा रूप से स्थित है
उसका कभी क्षय नहीं होता वह मेरा ही सनातन अंश है।
सत्व रज, तम गुण से युक्त मन और पंचेन्द्रियों को
यह आत्मा ही उनके गुणो से पृथक् करता है।
अर्थात् जब यह देह से गमन करता है तब
चित्त इंद्रियों को उसी प्रकार ग्रहण करता है।
जैसे वायु गंध को ग्रहण करती है
इनके ग्रहण के बाद ही आत्मा नवीन देह धारण करती है।
नवीन देह में जीव रूप से आत्मा ही नाक, कान, जीभ
त्वचा, स्पर्श तथा मन के द्वारा विषयों का भोग करते हैं।
लेकिन अज्ञानीजन देह में स्थित या मरण काल
विषय भोग काल, त्रिगुणों में लिप्त इस आत्मा को नहीं जान पाते हैं।
अर्थात् उस भौतिक देह के सभी
क्रियाकलापों को आत्मा ही जीव रूप से भोगता है।
लेकिन जीव से सदैव पृथक् रहता है
इसलिए अज्ञानियों को आत्मा का आभास नहीं होता है।
वह आत्मा को ही जीव रूप से देखते हैं
लेकिन इस आत्मा और जीव को पृथक रूप से ज्ञानी ही जान पाते हैं।
वह ज्ञान के द्वारा आत्मा को परम पुरुष
तत्त्व के रूप में निर्मल प्रकाश रूप।
निर्लेप् व मेरे ही अंश के रूप में देखते हैं
इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए वह नित्य योगाभ्यास करते हैं।
लेकिन जो भी व्यक्ति मूढ होते हैं
जिनके मन विषय वासनाओं से भरे होते हैं।
जो विषय भोगों को ही सब कुछ मानते हैं
ऐसे पुरुष आत्म ज्ञान का लाभ अर्जित नहीं कर पाते हैं।
क्योकि वह अभ्यास तो आत्मज्ञान के लिए करते हैं

लेकिन वे अपने मन को त्रिगुणमयी माया मे ही रमाते है
हे कौन्तेय! सूर्य, चन्द्र व अग्नि में जो ओज तत्त्व है
वह उनका अपना नहीं बल्कि मेरा ही होता है।
अर्थात् सूर्य मेरे ही तेज से सृष्टि का तिमिर दूर करता है
चन्द्रमा भी मेरे ही तेज के कारण प्रभासित होकर शीतल
तथा अग्नि भी मेरे ही तेज से प्रज्ज्वलित होती है
अतः सूर्य, चन्द्र व अग्नि में जो ओजस्विता होती है।
वह मेरे ही कारण है
इसी प्रकार पृथ्वी में जितने भी चर-अचर जीव हैं।
उनको धारण करने वाला मैं ही हूँ
अर्थात् पृथ्वी की स्थिरता का कारण मैं ही हूँ।
चन्द्रमा की शीतल किरणें वनस्पतियों को जिस रस द्वारा
उस अमृत रस की भी उत्पत्ति मेरे ही द्वारा होती है।
सभी जीवो में जो जठराग्नि के कारण अन्न पचता है
वह भी मेरे ही कारण से सम्भव होता है।
अर्थात् जठराग्नि व प्राण-अपान वायु के द्वारा
मै ही चारों प्रकार के अन्नों को पचाता।
चार प्रकार के अन्नों में जो चर्वण करके भक्षण किया ज
जैसे रोटी आदि भक्ष्य कहलाता है।
जो तरल होने के कारण निगल जाता है
जैसे दुग्धादि वह भोज्य कहलाता है।
जो चूसा जाता है वह चौष्य कहलाता है
जैसे गन्ना आदि और जो चाटा जाता है।
जैसे चटनी आदि लेह्य कहलाता है
यही इन खाद्य वस्तुओं का विधान होता है।
मै सभी जीवों के हृदय में निवास करता हूँ
इसीलिए मैं अतर्यामी कहा जाता हूँ।
जीवों मे स्मृति, ज्ञान, अपोहन आदि,
उत्पन्न होने का मूल हेतु भी मुझे कहा गया है।
और हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! वेदों में भी मेरे ही

ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है।
अतः मुझ परमपद को वेदों द्वारा भी जानते हैं
और वेदादि भी मेरे ही मूल से उत्पन्न होते हैं।
और वेद का ज्ञाता भी मै ही हूँ
और वेदों का अन्त भी मै ही हूँ।
अर्थात् वेदो में भी एक सीमा तक ही मेरी
महिमा का ज्ञान किया गया है।
लेकिन मेरी महिमा उससे भी कहीं अधिक है
जो अधूरित ही रह गया है।
और हाँ अर्जुन! सृष्टि में दो तरह के पुरुष होते हैं
एक वह जो क्षर (नाशवान) दूसरे अक्षर (विनाशरहित) होते हैं।
इस प्रकार यह भौतिक या स्थूल देह तो क्षर पुरुष है
और इस देह में रहने वाला जीवात्मा अक्षर पुरुष है।
लेकिन एक अन्य पुरुष भी होता है
जिसे उत्तम पुरुष कहते हैं।
वही सब लोकों में प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है
इस उत्तम पुरुष परमेश्वर को ही सर्वशक्तिमान कहते हैं।
वह परम पुरुष परमात्मा आदि मैं ही हूँ
क्योंकि मैं ही नश्वरता जड़ता आदि से पृथक हूँ।
तथा प्रकृतिस्थ विनाशरहित जीवात्मा से श्रेष्ठ कहा गया है
अतः वेदों व लोक में मुझे पुरुषोत्तम कहा गया है।
जीवात्मा में जो अंश होता है
वह भी मेरा ही होता है।
जो ज्ञानी मुझ पुरुषोत्तम को जान जाता है
वह मुझे सर्वमय मानकर निरंतर मेरा ही स्मरण करता है।
यह अतिगुप्त पुरुषोत्तम योग मैंने तुम्हें बताया है
जो जीव इसको तत्त्व द्वारा अर्थात् आत्मज्ञान द्वारा जान जाता है।
उसके लिए अन्य कुछ जानना शेष नहीं रहता है
अर्थात् वह ज्ञानी कृत्य-कृत्य हो जाता है।

■

सोलहवाँ अध्याय
दैवासुरसम्वद्विभाग योग

भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे कुन्ती पुत्र! सृष्टिगत जीवों की
दो प्रकृतियाँ हैं एक दैवीय प्रकृति व दूसरी आसुरी प्रकृति की।
जो जीव या पुरुष भय रहित, पवित्र मन
तत्त्व का जिज्ञासु, ध्यान में मग्न।
एकाग्र, दानशील इंद्रिय निग्रही हवन आदि करने वाला
भगवद् भक्त वेद–पुराणों का अध्ययन व श्रवण करने वाला।
परमात्मा का गुणगान करने वाला, दयालु निंदा न करने वाला
तपोनिष्ठ कष्ट पाकर भी निज धर्म से विचलित न होने वाला।
अहिंसक, सत्यभाषी, मितभोजी, परपीड़ा को अपनी पीड़ा समझने
अहितैषी का भी हितैषी कर्मभाव से पृथक् स्थिर मन वाला।
तेजस्वी, क्षमाशील, मन व देह से पवित्र जिसमे द्वेषभाव नहीं व्या
अहंभाव से रहित होकर वह दैवीय प्रकृति का पुरुष है कहलाता
हे अर्जुन! उपरोक्त के विपरीत जिसकी प्रकृति हो
अर्थात् जो लोकदृष्टि में धर्मान्धता होने का प्रदर्शन करता हो।
गर्वीला अहंभाव से ग्रस्त हो बात–बात में क्रोध करने वाला हो
कटु वचन बोलने वाला है अज्ञानी व्यसनों में लिप्त हो।
ऐसा पुरुष आसुरी प्रवृत्ति वाला होता है
इसके विपरीत जो दैवीय प्रकृति का होता है
वह भवबंधन से मुक्त रहते हैं, पर जो आसुरी प्रकृति वाले होते
वह सांसारिक प्रपंचों में लिप्त और उनके कर्मबंधन कारक होते
भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों को सुनकर
अर्जुन! मन ही मन निज मूल्यों का मूल्यांकन करने लगे।
तब श्री कृष्ण बोले, हे अर्जुन! तुम तो प्रारब्ध से ही
दैवीय प्रकृति के हो तुम क्या विचारने लगे।
हे अर्जुन! मैं पूर्व में कह चुका हूँ कि

पुरुषों की दो प्रकृतियाँ होती हैं।
दैवीय और आसुरी, दैवीय प्रकृति के पुरुषों की
प्रकृति मैंने विस्तार से समझाई है।
लेकिन आसुरी प्रकृति के पुरुषों की प्रकृति को संक्षेप में बतलाए
तो इसलिए अब आसुरी प्रकृति के पुरुषों के विषय में जानिए।
वह अपनी शारीरिक शुद्वि पर ध्यान नहीं देता है
ऐसा पुरुष आचरण हीन, मिथ्याभाषी होता है।
परमतत्त्व से उसे कोई सरोकार नहीं होता है
और न ही उसे वह मानता है।
सृष्टि जीवों की उत्पत्ति का हेतु भी वह
स्त्री पुरुष के संसर्ग को ही मानता है।
ईश्वर मे उसकी निष्ठा नहीं होती
उसका लक्ष्य विषय भोगों को भोगना ही होता है।
ऐसा मंदबुद्धि स्वयं को सार्वभौम मान बैठता है
अज्ञानता के कारण उसकी बुद्धि भ्रष्ट होने से वह क्रूरतापूर्ण कर्मों को करता है।
ऐसा जीव या पुरुष स्वयं तो पथभ्रष्ट होकर
क्लेशपूर्ण जीवन व्यतीत करता है।
साथ ही अन्यो को भी उसी कुमार्ग का
अनुसरण करने के लिए प्रेरित करता है
ऐसा पुरुष सृष्टि के विनाश का प्रतीक होता है
जो अत्यन्त निम्न कोटि का होता है।
ऐसा आसुरी प्रकृति का पुरुष छल–कपट अहं व विषय भोगों में लिप्त होकर
कभी भी पूर्ण न होने वाली अभिलाषाओ के प्रति आशान्वित होकर।
अज्ञानतावश कुमार्ग पर चलता हुआ
सासारिक आचरणों को निभाता है।
इस प्रकार वह मृत्यु काल तक मनोविकारों से ग्रस्त
तथा सासारिक भोग–विलासों में लिप्त रहता है।
इन्ही में आनन्द की परिपूर्णता मानता है
और आशाओं की डोर में बँधा रहता है।
ऐसा पुरुष इस मनोवृत्ति का होता है कि मैंने बहुत कुछ पा लिया है

और आगे भी अधिक पाने के लिए प्रयास करना है।
मै शत्रुओं का दमन करने में सक्षम हूँ
मेरे पास अकूत संपदा और विस्तृत परिवार है।
सब कुछ मैं ही हूँ मेरे समान अन्य कौन है।
जो कुछ मैं कर रहा हूँ वह अच्छा ही कर रहा हूँ।
बलशाली सुखी व सर्वसम्पन्न हूँ। इस प्रकार मैं हूँ मैं ही मै
वह अज्ञानता के कारण मोहसक्त होता है
वही आसुरी प्रकृति वाला होता है।
ऐसा अज्ञानी पुरुष मोह और विषयों के प्रति आसक्त होकर
इस लोक व परलोक में यातना ही भोगता है।
यदि ऐसा पुरुष यज्ञ, जप, तप आदि सद्कर्म
करता भी है तो उसमें उसका अहंभाव होता है।
अहभाव के कारण ही उसके सभी सद्कर्म पाखंड ही कहल
ऐसे कर्मों में भी ऐसे पुरुष अपनी ही प्रतिष्ठा को देखते है।
और कामना करते हैं कि लोग उसके कृत्यों की प्रशंसा करे
ऐसा पुरुष अहंभाव, काम, क्रोध, मोह, लोभ भोग लिप्सु होने
मुझ परमात्म तत्त्व से विमुख रहता है
और मुझसे द्वेष भी करता है।
यही कारण है कि वह अन्यों को पीड़ित भी करता है
और अनैतिक कर्मों में लिप्त रहता है।
हे अर्जुन! ऐसी आसुरी प्रकृति के पुरुष की
क्या गति होती है वह भी सुनिये।
ऐसे पुरुष को श्वान, सूकर आदि योनियो में
बार–बार जन्म लेने पड़ते हैं जान लीजिए।
हे पार्थ! नरक के तीन मुख्य द्वार हैं काम–क्रोध और लोभ,
इन तीनों को नरक का द्वार इसलिए कहा जाता है।
कि इनके कारण ही जीव उन नाना–विध
अनर्थमूलक कार्यों की ओर प्रवृत्त होता है।
जो नरक में ले जाने वाले होते हैं
अर्थात् जो पुरुष प्रथमतः किसी भी वस्तु की कामना करते

जब वह उस वस्तु को प्राप्त नहीं कर पाते हैं
तो क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं।
और क्रोध आने पर भले बुरे का निर्णय नहीं कर पाते हैं
तथा कुछ भी अनर्थ कर बैठते हैं।
इसी प्रकार लोभ है, लोभ या लालच के कारण भी
जीव किसी कर्म के सकारात्मक या नकारात्मक पक्ष की।
अवहेलना करता हुआ मात्र कर्म करने को प्रेरित होता है
कर्म प्रेरक लोभ होता है।
काम क्रोध, लोभ आदि नरक के मुख्य द्वार कहे जाते हैं
जो इन तीनो को विस्मृत करते है अर्थात् सदाचरण का पालन करते हैं।
वे सांसारिक प्रपंचों में न पड़ते हुए मेरे दिव्यधाम के अधिकारी होते हैं।
अतः हे अर्जुन! तुम भी शास्त्रानुसार ही आचरण करो,
शास्त्रवर्णित कर्म ही करने योग्य होते हैं ऐसा विश्वास करो।



सत्रहवाँ अध्याय
श्रद्धात्रय विभाग योग

सोलहवे अध्याय में जब भगवान् श्रीकृष्ण ने पुरुषों या
जीवों की दैवीय व आसुरी प्रकृति का भेद वर्णन करते हुए कहा।
जिन पुरुषो की शास्त्रों में निष्ठा है तथा जो
उसी के अनुसार ही आचरण भी करता रहा।
उन्हें मुक्ति मिलती है
उनकी आत्मा भव बंधन से मुक्त होती है।
तब अर्जुन के मन में शंका हुई कि जो लोग
शास्त्रों के प्रति श्रद्धा भाव नहीं रखते।
लेकिन किसी भी दैवीय शक्ति में
जिनकी आस्था है तो क्या वे मुक्त नहीं होते।
इसीलिए इस सत्रहवें अध्याय में
भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा हे सखे।
जिन पुरुषों ने शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया
और न ही शास्त्रानुसार आचरण किया।
मात्र श्रद्धा भाव के कारण ही अन्य देवी–देवताओं की भक्ति करते हैं
उनकी कौन सी प्रकृति है, क्या वे सात्विक होते हैं?
या फिर राजसी अथवा तामसी किस प्रवृत्ति के होते हैं?
अर्थात् ऐसे पुरुष किस गति या स्थिति के होते हैं?
अर्जुन के संशय को दूर करते हुए
भगवान् श्रीकृष्ण बोले हे कौन्तेय! सुनिये।
सात्विक, राजसी, व तामसी प्रकृति के जीवों में उनके
पिछले जन्म के संस्कारों के कारण उत्पन्न होते हैं।
इसको स्वाभाविक श्रद्धा भी कहते हैं
जिसे अब हम तुम्हें बतलाते हैं।
जो जीव सात्विक भाव वाला होता है

वह देवताओं का पूजक होता है।
जो राजसी भाव वाला होता है।
वह वृक्षों–दैत्यों का पूजक होता है।
और जो तामसी भाव का होता है
वह भूत प्रेत पिशाचों का पूजक होता है।
जो पुरुष शास्त्रों मे वर्णित व्रत, जप, तप रीतियों का
अनुसरण नहीं करता और स्वेच्छा से ही ऐसा करता है।
जो पाखंडी है जिसमें अहंभाव है तथा जो
विषयो की कामना करता है मोहपाश में पड़ता है।
जिसे अपने ही बल पर गर्व है तथा जो
पच महाभूतों से बने इस भौतिक शरीर को।
अनावश्यक रूप से व्रत आदि करके क्षीण करता है
और मेरे अंश रूप आत्मा को नाहक ही क्लेश पहुँचाता है।
ऐसा मूढ पुरुष आसुरी प्रकृति का होता है
जो कभी भी सुखी नहीं होता है।
हे पार्थ! जिस प्रकार मैने तुम्हे श्रद्धा के तीन भेद बतलाए हैं
उसी प्रकार आहार, यज्ञ, तप, दान आदि के भी तीन–तीन भेद होते हैं।
अब आप इनको पृथक्–पृथक् समझें
जिस भोजन या आहार के सेवन से।
आयु, शक्ति, मेधा स्वास्थ्य की वृद्धि होती है
जो सुखकारी, प्रीतिवर्धक, रसीली चिकनाई युक्त होती है।
सात्विक आहार कहलाता है
यह सात्विक जीवों को प्रिय होता है।
तथा ऐसा जीव देवत्त्व को प्राप्त है होता।
परन्तु जो आहार तीखा, कड़वा, खट्टा।
उष्णता के गुण वाला
रूखा दाह उत्पन्न करने वाला।
अर्थात् इस तरह के भोजन का जो सेवन करता है
वह रोग दुःख मानसिक क्लेशों को प्राप्त होता है।
जो जीव ऐसा राजस आहार ग्रहण करता है

वह राजसी तथा उन्मादी होता है।
और ऐसा आहार जो रसहीन, पूर्णतः पका न हो
जूठा, बासी, दुर्गंधवाला हो पवित्र न हो।
वह तामसी कहलाता है
जो जीव ऐसा ग्रहण करता है।
जो जीव जैसे आहार का सेवन करता है
बुद्धि के अनुसार वह वैसा ही आचरण करने लगता है।
हे अर्जुन! जो यज्ञ शास्त्र रीति के अनुसार कर्तव्य भावना के बिना
किसी फल की आशा से किया जाता है सात्विक यज्ञ कहलाता है।
जो यज्ञ मान प्रतिष्ठा प्राप्ति या अन्य किसी फल की
आशा से किया जाता है राजसी यज्ञ कहलाता है।
और ऐसा यज्ञ जो शास्त्र रीति के विपरीत अर्थात् मंत्रोच्चारण किये
पुरोहित को दक्षिणा दिये बिना अन्न वस्त्रादि का दान किये बिना।
निष्ठा रहित किया जाता है
तामसी यज्ञ कहलाता है।
हे पार्थ! अब तप के तीन भेद भी जान लो
भक्ति के उचित नियम सीख लो।
ईश्वर, ब्राह्मण, गुरु अर्थात् आचार्य आदि को नमन व उनकी सेवा क
माता, पिता, बृद्ध, आचार्य, विद्वजनों की पूजा, सहजता, ब्रह्मचर्य पाव
आदि शरीरिक तप कहलाता है
यह ज्ञानियों द्वारा किया जाता है।
शोक न करना, वेद शास्त्रों का अध्ययन, ईश्वर के
नाम का अभ्यास वाणी का तप कहलाता है।
इसी तरह मन को प्रसन्न रख शांत भाव रहना, ईश्वर का स्मरण
मन को एकाग्र करना, हृदय की पवित्रता आदि मन का तप होता है
अर्थात् मन को परोपकार में लगाना
इद्रिय अगों से दूर रहना।
वेद पुराणों का अध्ययन करना
आत्मा से साक्षात्कार करना।
निष्कपट रहना आदि मन के तप होते हैं

हे अर्जुन! अब हम तुम्हें तप की प्रकृति भी बताते हैं।
निष्काम भाव से कर्म करने वाले
कर्मनिष्ठ योगी द्वारा किये जाने वाले।
कर्म परम तत्त्व में अनुरक्ति श्रद्धावत् किये गये
कर्म तप सात्विक होते हैं।
जो तप अपने सम्मान, प्रतिष्ठा या दंभ के निमित्त
किये जाएं वह राजस तप कहलाते हैं।
ऐसा तप करने से क्षणिक फल प्राप्त होता है
फल प्राप्ति होगी भी या नहीं इसमें संशय रहता है।
इसी तरह जो तप अज्ञानतावश मन वाणी शरीर को
पीडित करके दृढ़तापूर्वक किया जाता है।
अथवा अन्यों का उपकार करने की दृष्टि से किया जाए
वह तामस तप कहलाता है।
जो दान कर्तव्य की भावना से
और बिना किसी प्रतिफल की आशा से
दिया जाता है
वही सात्विक दान कहलाता है।
ऐसा दान देश, काल और पात्र को
दिया जाना चाहिए देश काल का तात्पर्य ऐसा देश व काल को,
जिसमें किसी पदार्थ का अभाव हो
उस अभाव की पूर्ति के लिए अर्थात् जीवों की सेवार्थ दिया गया दान हो।
पात्र को दान देने का तात्पर्य है
ऐसे प्राणी को दान देना जो दुःखी है।
भूखा, रोगी अंग विहीन होने से अक्षम हो भिक्षुक या याचक हो
ऐसे प्राणी के पास जिस पदार्थ का अभाव हो।
उसे वह दान देना
उत्तम आचरण के ब्राह्मण को द्रव्यादि का दान देना।
पात्र को दान देना कहलाता है
पर जो दान प्रतिफल की आशा से अनिच्छा से दिया जाता है।
अर्थात् जिस दान को देते समय यह भावना बलवती होती हो

कि दान करने से मुझे मान–सम्मान की प्राप्ति हो।
और मेरा यश बढ़ जायेगा
तो ऐसा दान राजसी दान कहलायेगा।
और जो दान किसी को तिरस्कार भाव से दिया जाय
जहाँ किसी वस्तु का अभाव अनुभव न किया जाय।
और वहीं उस वस्तु का और अधिक दान किया जाय
दान के समय मुहुर्त आदि की जानकारी न की जाय।
ऐसे प्राणी को दान किया गया हो जो मास मदिरा आदि का हो सेवनकर्ता
और नीच, चोर वृत्ति का हो तो ऐसा दान तामसी दान है कहलाता।
हे अर्जुन! ॐ तत, सत् ही सत्य व आनन्द प्रदाता ब्रह्म है
इसमें ॐ अर्थात् प्रणव को ब्रह्ममाक्षर भी कहते हैं।
इसी से सृष्टि की उत्पत्ति होती है
तत् को संहारक तत्त्व कहा गया है जो शिव का रूप होती है।
और सत् को पालन तत्त्व कहा जाता है
अर्थात् वही पालनकर्ता भी होता है।
इस प्रकार ॐ, तत्, सत् परम ब्रह्म है
जो कि तीनों तत्त्वों का समन्वय पुंज है।
इसी ब्रह्म से सृष्टि के प्रारंभ में ब्राह्मण
वेद यज्ञादिक की रचना हुयी।
अतः वेदों में वर्णित विधियों के अनुसार यज्ञ, दान
व तप आदि जितने भी वैदिक कर्मों की रचना हुयी।
उनके प्रारंभ में प्रणवाक्षर (ॐ) का उच्चारण किया जाता है
कल्याण की कामना रखने वाला पुरुष परमात्मा के तत् नाम का स्मरण करता है।
और जो भी वह कर्म करता है
उसमें उसका वही भाव होता है।
कि जो कुछ भी है वह सब सत् नाम वाले परमात्मा का ही है
इसी प्रकार ब्रह्म सत् नाम से सत्यता व श्रेष्ठता का भाव रखना भी है।
हे पार्थ! यज्ञ, तप दानादि करते समय
जो पुरुष सत् भाव रखता है।
अर्थात् इन कर्मों को [illegible] के निमित्त करता है



वह कर्म ही सद्कर्म कहलाता है।
जो पुरुष यज्ञ, दान-तप आदि कर्म करता है
लेकिन उस का भाव लाभ प्राप्ति का होता है।
ऐसा कोई भी कर्म असत् कहलाता है
सद्कर्म इस लोक और परलोक से भी सुखकारी होता है।
लेकिन असद्कर्म दोनो ही लोको में दुख दायक होता है
पुरुष या जीव को सदैव मुझ सत्य रूप।
आनन्द प्रदाता परम पुरुष का स्मरण करते हुए
अनासक्त भाव से और मेरे ही निमित्त।
शास्त्ररीति से कर्मों को श्रद्धावत् करना चाहिए
क्यों कि मेरे निमित्त श्रद्धाभाव से किया गया कर्म मुझे प्राप्त होता है।
तथा श्रद्धारहित कर्म अन्य-अन्य भूतादिक देवों को प्राप्त होता है
अथवा जिसमें पुरुष की श्रद्धा होती है वह उसे प्राप्त होता है।
तथा ऐसे पुरुष को उस देव या भूतादिक देव द्वारा लौकिक फल प्राप्त होता है
लेकिन जो मेरे लिए निष्काम भाव से श्रद्धावत् कर्म करता है।
उसका उसे फल नहीं मिलता परन्तु वह मुझे प्राप्त कर लेता है
अतः जीव को प्रसन्न चित्त से मेरे निमित्त श्रद्धाभाव से सद्कर्म करना चाहिए।



अठारहवाँ अध्याय

मोक्ष संन्यास योग

इस भगवत् गीतोपनिषद् के ग्यारहवें अध्याय में
जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट रूप का दर्शन कराया
तब अर्जुन उनके प्रति नतमस्तक हो गया
और उसने मुमुक्षु होकर ज्ञान प्राप्त किया।
इसी क्रम में गीतोपनिषद् के इस अंतिम व
अठारहवें अध्याय में जो कि गीता का सार भाग भी है।
अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से पूछता है हे महावाहो!
हे कौशिनी सूदन! सन्यास और त्याग यथार्थतः क्या है?
क्योंकि उपनिषद के चौथे व पांचवें अध्याय में भी
ज्ञान व कर्म के संन्यास का वर्णन किया गया है।
अतः अर्जुन अपने सभी संशयों का निराकरण कर लेना चाहता है
इसी उद्देश्य की पूर्ति के निर्मित्त वह इस अठारहवें अध्याय में पूछता
हे भगवन! सन्यास व त्याग के लिए आपने बहुत बार मुझसे कहा
लेकिन सयास और त्याग की वास्तविकता तो बताएं कि यह है क्या।
अर्जुन के इसी संशय का निराकरण करते हुए भगवान श्री कृष्ण ने कह
शास्त्रों के ज्ञाता पंडित लोग काम्यकर्मों के त्यागने को संन्यास है बताए
कुछ अन्य विद्वान् पुरुष सर्वकर्मफल के त्याग को त्याग की संज्ञा देते है
सर्व कर्म त्याग क्या है? अब ये हम तुम्हें बताते हैं।
जैसे देव पूजन, जप, तप, यज्ञ गृहस्थ जीवन निर्वाह करना आदि जो भी
उनमें लोक परलोक संबंधी कामनाओं का त्याग ही सर्वकर्म फल त्याग
कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो सभी कर्मो को दूषित
मानते हुए उनको त्याग देने को कहते हैं।
लेकिन कुछ ऐसे भी विद्वान् या पडित जन हैं जो हवन, दान
तप आदि कर्मों को त्याजनीय नहीं बतलाते हैं।

लेकिन हे अर्जुन! त्याग तीन प्रकार का होता है
सात्विक, राजस व तामस कोटि का होता है।
यज्ञ तप, दान आदि जो कर्म हैं इनके करने से मानव की
शुद्धि होती है अतः ऐसे कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।
ऐसे कर्म तो बिना किसी शंका के अवश्य ही करने चाहिए
तथा उत्तम कर्म किसी प्रतिफल की आशा से किये बिना अवश्य करने चाहिए।
हे अर्जुन! स्वाभाविक या निश्चित कर्म
अर्थात् शास्त्रों द्वारा वर्ण व्यवस्था के अनुसार निर्धारित कर्म।
व सामान्य धर्मादिकृत्यों का त्याग नहीं करना चाहिए।
ऐसे कर्मों का त्याग मोहवश यदि किया जाए।
तो वह तामस वृत्ति का त्याग कहलाता है।
यदि कोई जीव कर्मों को दु:खों का कारण मानकर त्याग करता है।
तो ऐसा त्याग राजसी त्याग कहलाता है।
ऐसे त्याग का कोई प्रतिफल नहीं मिलता जो व्यर्थ होता है।
करने योग्य कर्मों के प्रति आसक्ति व फल की कामना का
त्याग सात्विक त्याग कहलाता है।
ऐसा जीव जो अमंगलकारी कर्मों से तो द्वेष न रखता हो
तथा मंगलकारी कर्मों में लिप्त होता हो।
वही सतोगुणी कहलाता है
तथा संशय मुक्त त्यागी तथा ज्ञानी होता है।
अत हे अर्जुन! जीव सद्कर्मों का
कभी भी त्याग नहीं किया जाता है।
क्योंकि जीव के सद्कर्मों का
त्याग करना असंभव कहा जाता है।
और जो जीव सत्कर्मों का त्याग न करके उन कर्मफलो का त्याग करता है
जिसमें कर्तापन का अभाव रहता है वही त्यागी पुरुष कहलाता है।
कर्मफल भी तीन तरह के होते हैं जैसे कर्मासक्त पुरुष द्वारा
किये गये अच्छे कर्म का फल अच्छा बुरे कर्म का फल बुरा।
तथा मिश्रित कर्मों का फल मिला–जुला मिलता है
लेकिन जो पुरुष निष्काम त्यागी होता है।

उसके द्वारा किये गये किसी भी कर्म का फल उसे प्राप
क्योंकि वह मुझमें श्रद्धा रखते हुए निष्काम भाव से कर्म
जो जीव मेरे अंश आत्मा को कर्ताभाव से नहीं देखता
सृष्टिगत पदार्थों में जो बुद्धि को प्रेरित नही करता।
जो सभी कर्मों में लिप्त नहीं रहता है
ऐसा जीव न तो कभी स्वयं मरता है
और न ही अन्य को मारकर पापग्रस्त होता है।
ऐसे जीव में देहाभिमान नहीं होता है
वह जो कुछ करता है सृष्टिगत जीवो के लिए करता है
स्वार्थवश वह कोई कर्म नही करता है।
यदि लोकाचार में किसी का वध हो जाता है
तो वह उसके द्वारा हिंसा नहीं होता है।
हे भरतवंशी! ज्ञाता, ज्ञान तथा श्रेय जब समन्वित हो ज
तब यही जीव में कर्म करने की भावना प्रबल करते है।
और जब कर्ता, करण और क्रिया का समन्वय होता है
तभी अन्दर से कर्म उत्पन्न होता है।
शास्त्रों में ज्ञान कर्म और कर्ता को गुणानुसार तीन वर्ग
हे अर्जुन सुनो! अब तुम्हें वही बतलाना है।
हे पार्थ! जिस ज्ञान के द्वारा पुरुष सृष्टिगत
अन्य जीवों में भी एक आत्म सत्व के दर्शन करता है।
ऐसा ही ज्ञान सात्विक ज्ञान कहलाता है तथा
ऐसा व्यक्ति किसी के प्रति द्वेषादि नहीं रखता है।
जिस ज्ञान के द्वारा अन्य जीवों में आत्मतत्व को
द्वैतभाव से देखता है, राजस ज्ञान कहलाता है।
जिस ज्ञान के द्वारा पुरुष विनाश को प्राप्त होने वाले
इस पंच भौतिक शरीर को ग्को जानने का कभी प्रय

वह हीन वृत्ति का होकर तामसी कहलाता है
हे अर्जुन! गुणानुसार कर्मभेदों को भी समझ ले।
कर्मशास्त्रों में वर्णित रतियों के अनुसार कर्तापन का त्य

जो बिना किसी लोभ–लालच के किया जाता है
वह सात्विक कर्म कहलाता है।
जो कर्तापन का अभाव रखते हुए अच्छे या बुरे
अर्थात् किसी भी तरह के प्रतिफल की कामना से।
परिश्रम पूर्वक किया जाता है
वह राजसी कर्म कहलाता है।
इसी प्रकार जो कर्म माया के प्रति होकर किया जाय।
कर्म के प्रतिफल का कोई विचार न किया जाय।
कि उससे लाभ होगा या हानि अनिष्ट होगा या हित
नीति अनीति का विचार किये बिना, अज्ञानता के वशीभूत
होकर जो कर्म किया जाता है
वह तामसी कर्म होता है।
हे कौन्तेय! अब हम तुम्हें कर्ता के तीनों भेद बतलाते हैं
जो कर्ता सद्कर्म (यज्ञ, जप, श्राद्ध, सेवा आदि) करते है
तथा ऐसे कर्मों के फल में जिसकी आसक्ति न हो
कर्तापन या अहंभाव जिसमें न हो
कार्य की विफलता या सफलता मे क्रमशः हर्ष या शोक से रहित हो
पाखंडी न हो, कर्म मे समर्पण भाव रखता हो
वह सात्विक कर्ता कहलाता है।
यही सबसे श्रेष्ठ भी होता है।
जो कर्ता कर्मफल की आशा रखता हो
अशुद्ध आचरण वाला कर्म सिद्धि हो।
कार्य की असिद्धि में शोक करने वाला
लालची, अन्यों को पीड़ा पहुँचाने वाला।
राजसी कर्ता कहलाता है
जो माया रूपी संसार में भटकता रहता है।
लेकिन जिसके मन में अनेक विकार हों
जो संस्कारहीन या अशिक्षित हो।
कर्तापन के प्रभाव से ग्रस्त, कर्म से हीन धूर्त हो
तथा अन्य की आजीविका के साधन को नष्ट करने वाला हो

वह तामसी कर्ता कहलाता है ऐसा तामसी कर्ता
जो सदैव शास्त्र विधि के विपरीत ही है कर्म करता।
तथा किसी भी कर्म को करने में उसका अहंभाव प्रमुख होता है
जो उसे संसार में गर्त की ओर ले जाता है।
हे अर्जुन! अब तुम्हें विचारण शक्ति व आधान शक्ति के भेद को जानन
सुनो जिस सूक्ष्म विचारण शक्ति द्वारा गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए।
फलासक्ति का त्याग कर राजा जनक की भाँति
ईश्वर का निरंतर ध्यान किया जाए
अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग को माना जाय।
तथा अपने अहंभाव का त्याग करके परमतत्त्व में एकाग्र होना
सासारिक क्रिया कलापों से विरक्त रहकर आत्म तत्त्व का मनन करना
करने व न करने योग्य कर्मों का भय अभयबंधन मुक्ति को तत्त्व से
जानना भी सात्विक सूक्ष्म विचारक शक्ति है।
पर सूक्ष्म विचारण शक्ति द्वारा धर्म क्या है, अधर्म क्या है, करने योग्य क्या
इसका उचित ज्ञान प्राप्त किया जाय वह राजसी विचारण शक्ति है।
तथा तामसी गुण से आच्छादित सूक्ष्म विचारण शक्ति के कारण
अधर्म को धर्म मानना और अर्थपूर्ण का अनर्थपूर्ण मानना।
अर्थात् अनर्गल चिंतन अन्य से द्वेष रखना और उसे
पीड़ित रखना विषादपूर्ण स्थिति से घिरे रहना।
आदि प्रवृत्त हो जाती है
तब ऐसी सूक्ष्म विचारण शक्ति तामसी होती है।
जब जीव व्याभिचारिक दोषों अर्थात् सांसारिक पदार्थों में आसक्ति का
त्याग करके मन, प्राण, व इंद्रियों के द्वारा भगवद् चितन किया करता
तब उसकी आस्था सात्विक कहलाती है लेकिन जब जीव की आस्था
पुरुषार्थों में होती है तब वही आस्था राजस योग कहलाता है।
जब आत्मा दुष्प्रवृत्तियों की ओर होती है
तब तामसी आस्था वाला कहलाता है।
हे कुन्ती पुत्र! देवलोक सहित धरती
आकाश, पाताल आदि सभी।

लोक माया से बने होने के कारण तत्त्व, रज, तम
आदि मायिक गुणों से आबद्ध रहते हैं।
तथा इन लोकों में रहने वाले जीव भी
तीनो गुणों से युक्त होते हैं।
इसलिए हे तपोधनी अर्जुन! ब्राह्ममण, क्षत्रिय वैश्य व शूद्र
विगत जन्मों के कर्म संस्कारों के कारण से भिन्न-भिन्न योनियों मे जन्मते हैं।
प्रत्येक वर्ण में गुण भी संस्कारो में अनुसार ही होते है
तथा वे वैसे ही स्वभाव के भी होते हैं।
अर्थात् ब्राह्मण योनि में जन्मा जीव ब्राह्मणोचित कर्मो में संलग्न रहता है
इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र भी होता है।
ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म है मन को एकाग्र करना
इद्रियो पर अकुश पाना।
क्षमा करने का भाव शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन भी
ज्ञान प्राप्ति आस्था भाव आत्म तत्त्व की अनुभूति करना आदि।
क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म
तेजस्विता, चातुर्य, वीरता पराक्रम, युद्ध से विमुख न होना
दान करना स्वार्थ को त्याग कर सर्वहित में
कर्तव्य पालन शास्त्ररीति से शासन करना
वैश्य का स्वभाविक कर्म है कृषि करना
गौओं का पालन, क्रय-विक्रय का सत्यशः व्यवहार करना।
अर्थात् किसी भी वस्तु या पदार्थ के लेन-देन मे छलकपट का व्यवहार न करना।
और शूद्र का स्वाभाविक कर्म इन तीनों कर्मों सहित सभी की सेवा करना।
सभी वर्णों के लोगों को अपने-अपने
कर्म में प्रवृत्त होने से ही सिद्धि मिलती है।
और प्रत्येक जीव को निज कर्म में,
प्रवृत्त होने से ही मुक्ति भी मिलती है।
सृष्टि में जितने भी जीव हैं वह सभी पुरुष द्वारा ही उत्पन्न हुए
अर्थात् परम पुरुष परमात्मा में ही सृष्टि को मानना चाहिए।
क्योकि जिस प्रकार हिम या बर्फ जल से परिपूर्ण रहती है

वैसे ही सत्य, आनन्द प्रदाता, परमात्मा भी समूची सृष्टि मे व्य
हे अर्जुन! जिस पुरुष या जीव की सांसारिक या असांसारिक
सृष्टिगत भौतिक पदार्थों और स्वर्गिक सुख में तनिक भी निष्
जिसकी बुद्धि ऐसे सुखों की ओर प्रवृत्त नहीं तथा
जिसकी कोई कामना भी नहीं है।
तथा जिसका अंतःस्थल परम पावन है
ऐसा पुरुष सांख्य योग द्वारा अकर्मक सत्य स्वरूप है।
आनन्द प्रदाता परम पुरुष तत्त्व रूप की सिद्धि प्राप्त करता है
अर्थात् उसे नारायण रूप प्राप्त हो जाता है।
अतः हे कौन्तेय जिसका अन्तस्थल निर्मल हो गया है
जिसने सत्य व आनन्द स्वरूप परम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर
और जो तत्त्व ज्ञान का चरम बिन्दु है अर्थात् पराभक्ति या ज्ञान
उसका सार मुझसे जानो मुझे ही सर्वस्व मानो।
जिस पुरुष की बुद्धि पावन है जो एकांत वास करके अल्पभो
अर्थात् मन वाणी देह के वशीभूत होकर जो वैराग्य वृत्ति का
तथा सदैव परमतत्त्व के स्मरण में लीन रहता है
सात्विक वृत्ति का होने से जिसका चित्त चलायमान नहीं होत
शब्द रूप रस स्पर्शादि विषयों से जो सर्वथा दूर रहता है
जिसके मन में कभी किसी के प्रति प्रेमभाव नहीं उपजता है।
और न ही किसी के प्रति शत्रुता रखता है
तथा अहं शक्ति, गर्व, काम क्रोध का परित्याग करता है।
जो मोह माया से विरक्त हो गया है
जिसका चित्त पूरी तरह शांत हो गया है।
वही सत्य स्वरूप आनन्द प्रदाता ब्रह्मा के
प्रति समर्पित व एकाग्र भाव वाला होता है।
ऐसे तत्त्वनिष्ठ पुरुष को किसी भी पदार्थ की प्राप्ति
होने की स्थिति मे कभी भी शोक या दुःख नहीं व्यापता है।
किसी वस्तु की प्राप्ति का भाव उसके मन में कभी उत्पन्न ही
ऐसा पुरुष सभी सृष्टिगत जीवों के प्रति समबुद्धि वाला है हो
समबुद्धि पुरुष ही मेरी परम भक्ति अर्थात् ब्रह्मस्वरूप

के प्रति निष्ठा को प्राप्त करने में सक्षम होता है।
अर्थात् परम सिद्धि का अधिकारी वही होता है
और वह सभी माया मोह से रहित मोक्ष को प्राप्त करता है।
जो पुरुष मेरी परम भक्ति या परम सिद्धि को प्राप्त करता है
वह मेरे कर्म को भलीभाँति जान जाता है।
और इस प्रकार मेरे कर्म को जानकर वह मेरे ही स्वरूप को
सर्वजीवों में देखता है उसके कर्म भी अकर्म हो जाते हैं।
उसकी दृष्टि मे समूची सृष्टि ही वासुदेवमय हो जाती है
और वह मुझ परमानंद स्वरूप मे लीन हो जाते हैं।
भाव यह है कि जो पुरुष मेरे प्रकाश मय स्वरूप का सदैव चिंतन किया करता है
वह अंतकाल में प्रकाश रूप होकर मेरे ही प्रकाशमय स्वरूप में विलीन हो जाता है।
ऐसे पुरुष का जन्म मरण नहीं होता है
ऐसी स्थिति को ही मोक्ष या मुक्ति कहा जाता है।
इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम जो भी कर्म करो
वह मुझे ही अर्पित कर दो तथा मेरे प्रति निष्ठा रखते हुए कर्म भी करो।
और निरंतर मेरा स्मरण भी, ऐसा करने से जब तुम
अपने निरंतर कर्म करते हुए भी मुझमें ही रमे रहोगे।
तो तुम मेरी कृपा के पात्र बनोगे और भवसागर के जन्म मरण आदि
दुखरूपों की निवृत्ति होगी अर्थात् तुम मुक्त हो जाओगे।
यदि तुम अहंभाव में लिप्त होकर मेरे द्वारा
कहे गये वचनों को अंगीकार नहीं करोगे।
तो तुम विनाश को प्राप्त होओगे अर्थात् जो तुम्हारा
परम ध्येय अथवा लक्ष्य है उससे भटक जाओगे।
यदि तुम प्रेमभाव के कारण यह समझते हो कि तुम
युद्ध नहीं करोगे और युद्ध करना तुम्हें शोभा नहीं देगा।
विशेष कर उस स्थिति में जबकि तुम्हारे सगे समबन्धी
तुम्हारे सम्मुख खड़े हैं, तो हे अर्जुन! तुम्हारा ऐसा सोचना निरर्थक होगा।
क्योकि क्षत्रिय होने के कारण तुम्हें युद्ध तो अवश्य ही करना होगा
तुम्हारा क्षत्रिय स्वभाव भी तुम्हें युद्ध के लिए प्रेरित करेगा।
मोहासक्त होने के कारण जिस कर्म से तुम विमुख होगे

वह कर्म तो तुम्हें स्वाभाविक कर्म से आबद्ध होने के कारण अवश
क्योंकि समस्त जीवों के हृदय स्थल में अंतरात्मा रूप से स्थित प
अपनी माया के द्वारा प्रत्येक जीव को है भरमाता।
अतः हे कौन्तेय! तुम सर्वतः उस परम ईश्वर की शरण ग्रहण करो
अर्थात् मान, प्रतिष्ठा, संकोच और अहंभाव आदि का त्याग करो।
अंतिम लक्ष्य व सब कुछ मानकर प्रीतिपूर्वक उनके ही नाम प्रभाव
रूप का ध्यान आदि करते हुए ईश्वर के प्रति स्वयं को समर्पित व
ऐसा करने से हे अर्जुन! तुम्हें उस ईश्वर की कृपा से
महान् शांति को प्राप्त करके अनादि परम ब्रह्म को प्राप्त कर लो।
श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुनकर
अर्जुन ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया।
अपितु किंकर्तव्य विमूढ़ बना रहा
तब श्री कृष्ण ने उसके मनोभावों का अध्ययन किया।
तब वे गंभीर वाणी में बोले हे सखे!
गूढ़ातिगूढ़ मेरे रहस्यमयी वचनों को आप सुने।
क्योंकि तुम मेरे अंतरंग मित्र सखा परम प्रिय हो
सो मैं तुम्हें पुनः हितकारी वचन कहूँगा जिससे तुम्हारा कल्याण ह
हे अर्जुन! तुम मेरे सत्य, आनन्दमय वासुदेव,
स्वरूप में मन को प्रेरित करो।
तथा मेरे ही नाम, रूप महिमा का,
अनासक्त भाव से गुण-कीर्तन करो।
मेरा स्वरूप कैसा है सुनो मैं सुनाता
चारो हाथों में शंख, चक्र, गदा पद्म तथा।
कानो मे कुंडल शीश पर किरीट सुशोभित है
वक्ष पर वनमाला कौस्तुभ मणि है।
पीताम्बर धारण किये हुए
तथा मेरे इसी चतुर्भुज रूप के प्रति निष्ठा रखते हुए।
हे अर्जुन! तुम मन, वाणी, देह के द्वारा सब कुछ मुझे समर्पित कर
मुझे ही बलशाली, ऐश्वर्यवान, गंभीर विभूति संम्पन्न मानिए।
तथा श्राद्ध भक्ति सहित मुझ परम गति या

सर्वप्रथम स्वरूप को वासुदेव जानकर दंडवत् प्रणाम करो।
ऐसा करने से हे अर्जुन! तुम मुझको ही प्राप्त होओगे
तुम मेरे प्रिय मित्र हो मुझे ही स्मरण करो।
इसीलिए मैंने मात्र तुम्हारे लिए ही यह प्रतिज्ञा की
तुम कर्मरूप सभी धर्मों का परित्याग करके मुझ वासुदेव की
अनन्य शरण ग्रहण करो
अर्थात् सांसारिकता का मोह छोड़ कर निस्संकोच हो।
जब आप मेरे प्रति एकनिष्ठ होकर मेरी शरण ग्रहण करेंगे
तो हम आपको सभी प्रकार के पापों से मुक्त कर देगे।
अत हे सखा तुम किसी प्रकार का शोक मत करो
मेरे द्वारा बताया हुआ मोक्ष मार्ग के रास्ते का चयन करो।
हे कौन्तेय! गीता का यह अति गूढ़ ज्ञान है जो मैंने तुम्हारे हित को
ध्यान मे रखते हुए मात्र तुम्हें ही बताया है जो कि सभी मनुष्यो को
बताना ही नहीं चाहिए परन्तु जिनको है जरूरत यह ज्ञान बताया जाता है उनको
जो भक्तिभाव का होता है अर्थात् भक्त हो।
सम्मान करता हो जिसकी ईश्वर में निष्ठा हो
उसे यह ज्ञान अवश्य देना चाहिए।
क्योकि जो नमुष्य मुझमें निष्ठा रखते हुए
मेरे स्वरूप का ध्यान करते हुए।
अति गोपनीय इस गीतोपनिषद का ज्ञान मेरे भक्तों में बाँटता है।
अर्थात् आसक्ति रहित भाव से जो इस गीता को
पढकर भक्तजनों में प्रचारित करता है।
वह मुझको ही प्राप्त हो जाता
इसमें तनिक भी संकोच नहीं होता।
जो मनुष्य इस प्रकार गीता ज्ञान का प्रचार करता है
वही भक्त मुझे अत्यधिक प्रिय होता है।
पृथ्वी में उसके समान प्रिय मुझे कोई अन्य नहीं होता है
अतः यही मेरा परम धर्म है जो वह निभा रहा होता है।
हे कौन्तेय! जो कोई मनुष्य तुम्हारे और मेरे मध्य हुए

इस गीताशास्त्र के संवाद का नित्य पाठ करेगा।
यह मेरा कथन सत्य है उस मनुष्य द्वारा मैं
ज्ञान यज्ञ द्वारा पूजित माना जाऊँगा।
हे पार्थ! जो मनुष्य दोषारोपण न करके
श्रद्धाभाव से इस गीता शास्त्र का नित्य श्रवण मात्र ही करेग
वह भी पापों से छूटकर
श्रेष्ठ जनों के लोकों में विचरण करेगा।
भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार गीता का महत्त्व
बतलाकर अर्जुन से प्रश्न किया।
हे अर्जुन! हे सखे! मैंने जो कुछ तुमसे कहा
क्या तुमने उसको शांत चित्त से श्रवण किया।
क्या तुम्हारा अज्ञानतावश उपजा मोह विनष्ट हुआ
मेरे द्वारा दिये गये ज्ञान का मुझे बताओ क्या असर हुआ।
भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार प्रश्न करने पर
अर्जुन ने भाव विभोर होकर प्रत्युत्तर दिया।
हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरी बुद्धि पर
पड़ा मोह का आवरण हट गया।
अर्थात् अब मैं मोह से मुक्त हो गया हूं
तथा ज्ञान से परिपूर्ण हो गया हूँ।
अतः हे माधव! अब मेरे संदेह समाप्त होकर हुआ मैं स्थिर
अब आप जो भी मुझे आज्ञा देंगे उसका अवश्य ही है मुझे
उधर वेद व्यास द्वारा प्रदत्त दिव्य चक्षुओं के द्वारा
संजय ने कौरवाधिपति धृतराष्ट्र को युद्ध का वर्णन करते हुए
हे राजन! भगवान् श्रीकृष्ण व दिव्यात्मा अर्जुन के मध्य हुए
गूढ व रोमांचित करने वाले संवाद को सुनकर हम धन्य हो
महर्षि वेद व्यास की मुझ पर असीम कृपा है
जिन्होंने मुझे दिव्य दृष्टि प्रदान किया है।
जिसके बल पर मैं उस महान रहस्यपूर्ण व गुप्त ज्ञान को
साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारबिंद से सुनने में सक्षम हु
हे राजन! भगवान् श्रीकृष्ण व दिव्यात्मा अर्जुन का यह सवा

रहस्यमयी कल्याणकारी अद्‌भुत है जिसको जानकर मैं धन्य हुआ।
हे राजन् श्रीकृष्ण ने जो अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाया था उसी का
बार-बार स्मरण होने से मुझे विस्मय व हर्ष दोनों एक साथ है होता।
हे कौरवाधिपति! मेरा तो यही विश्वास है कि जहाँ श्रीकृष्ण के रूप में स्वय
नारायण हो, तथा गांडीव के धारणकर्ता अर्थात् अर्जुन हों
वही पर विजय, लक्ष्मी, नीति का वास है।

■

पहले अध्याय का महत्त्व

एक बार कैलाश पर्वत के सुरम्य स्थल पर आसीन भगवान् शिव से माता पार्वती ने पूछा, 'हे देवेश्वर! ऐसा कौन-सा उपाय है जिसके करने से जगत् पालक श्री विष्णु के प्रति आसक्ति की वृद्धि हो। यद्यपि आपके द्वारा मुझे धर्म के गूढ रहस्यों का ज्ञान प्राप्त हुआ। लेकिन अब मैं उस रहस्य को जानना चाहती हूँ जिसके आनन्द में आप सदैव आनन्दित रहते हैं।'

माता पार्वती की जिज्ञासा को शांत करते हुए भगवान् शिव बोले हे उमा! सुनो! वह रहस्य गीता का ज्ञान है। अब मैं तुम्हें इस संदर्भ मे एक कथा बतलाता हूँ।

एक समय भगवान् विष्णु शेष शय्या पर विराजमान थे। तब विष्णु प्रिया लक्ष्मी ने उनके चरण दबाते हुए पूछा – हे स्वामिन्! आप सृष्टि के पालनहार होते हुए भी क्षीर सागर में प्रायः निद्रा में लीन रहते हैं। इसका क्या रहस्य है?

तब जगत के पालनकर्ता विष्णु बोले, हे प्रिये! तुम्हें मैं निद्रा में लीन दिखलाई अवश्य पड़ता हूँ लेकिन तब भी मैं माहेश्वर के तेज का दर्शन कर रहा होता हूँ। योगीजन भी इसी माहेश्वर तेज का हृदय में ध्यान किया करते हैं यही वेदों का सार और गीता का ज्ञान है। यह तेज अजर, अमर, अविनाशी, द्वैतभाव से रहित है। एक और रहस्य की बात यह है कि गीता भी मेरा शब्दावतार है यही कारण है कि गीता के प्रथम पांच अध्याय मेरे मुख छह से दस भुजाएँ अध्याय ग्यारह से पंद्रह अध्याय मेरा हृदय व मन है। तथा सोलहवां अध्याय उदर, सत्रहवा अध्याय जंघा और अठारहवां अध्याय चरण है। गीता में वर्णित श्लोकादि नदिया व अक्षरादि रोम हैं इस प्रकार गीता मेरा शब्दावतार है।

इसका ज्ञान होने से पापों का क्षय होता है जो मुख्य गीता के एक, आधे चौथाई अध्याय या श्लोक का नित्य पाठ करता है, वह भवबंधन से मुक्त हो जाता है। लक्ष्मी जी ने पूछा, 'हे प्रभो! क्या गीता के इस ज्ञान से किसी का उद्धार भी हुआ है? विष्णु बोले, प्रिये सुनो! किसी काल में एक ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मो से विमुख होकर सदैव पाप वृत्ति मे लीन रहता था। उसकी दिनचर्या में मदिरा सेवन,

भोग–विलास ही अधिक सम्मिलित था। ब्राह्मण होकर भी वह न कभी जप, होम देव पूजन करता था और न ही अतिथि सत्कार फिर भी उदर पूर्ति के निमित्त पशुओं के आहार रूप में वृक्षों के पत्ते बेचा करता था।

एक दिन पत्ते तोडते समय उसे एक विषधर ने डंस लिया और कुछ समय पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई। मरणोपरांत वह अनेक योनि भोगों को भोगता हुआ पुनः मृत्युलोक में वृषभ (बैल) के रूप में उत्पन्न हुआ। उस बैल को अति निर्धन व्यक्ति ने आजीविका की दृष्टि से क्रय कर लिया।

वह निर्धन व्यक्ति दिन भर उस पर बोझ ढोया करता और रात्रि में घर के बाहर एक खूंटे से बाँध दिया करता था। आहार के रूप में बैल को भूसा अपर्याप्त मिलने से वह क्षीणकाय हो गया।

एक दिन वह निर्धन व्यक्ति बोझा ढोकर बैल को किसी दुर्गम स्थान पर ले गया, जहाँ भूखा–प्यासा वह बैल मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और मरणासन्न अवस्था मे पहुँच गया लेकिन उसके प्राण नहीं निकले।

उस मार्ग से निकलने वाले अनेक लोगों ने दयाभाव से उसके निमित्त जप, तप आदि का संकल्प भी किया लेकिन वह बैल तडपता ही रहा।

भाग्यवश उसी मार्ग से एक पतिता स्त्री भी जा रही थी। जब उसने जन समुदाय से घिरे बैल को देखा तो कौतूहलवश वह भी वही रुक गई। पूछताछ करने पर लोगों ने बैल की मरणावस्था व प्राण न निकलने के संदर्भ में बताया।

लोगों की बात सुनकर पतिता ने संकल्प किया कि यदि उसने जीवन मे कोई भी पुण्य कार्य किया है तो बैल को इस स्थिति से मुक्ति मिल जाय। पतिता का इतना कहना था कि बैल के प्राण छूट गये।

उसका अगला जन्म उसी नगर के वेद पाठी, शील ब्राह्मण के घर में हुआ। लेकिन पूर्वजन्म का स्मरण उसे बना रहा। जैसे–जैसे वह बड़ा हुआ वेदपाठी पिता ने ही उसे शिक्षित किया। ब्राह्मण ने उसका नाम सुशर्मा रखा।

सुशर्मा नामक वह युवा ब्राह्मण विगत जन्म के रहस्य की गुत्थी सुलझाने व ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से उसी पतिता स्त्री के द्वार पर जा पहुँचा। जब पतिता स्त्री द्वार पर आई तो सुशर्मा ने विगत जन्म का स्मरण करते हुए उस पतिता स्त्री से पूछा, हे देवी! जब मैं वृषभ योनि में मृत्यु से संघर्ष कर रहा था तब तुमने कौन सा पुण्य दान किया था जिससे मुझे उस देह से मुक्ति मिली? पतिता बोली, 'मुझे स्मरण नहीं कि मैंने जीवन में कभी कोई पुण्य किया लेकिन मुंडेर पर लटके पिंजरे

मे बैठे उस तोते को तुम देख रहे हो। वह नित्य प्रातः जो कुछ भी बोलता है मै उसका श्रवण मात्र करती हूँ। उस सुनने का जो फल था वही मैंने दान किया था।

अब दोनों ने तोते के पास जाकर पूछा 'हे शुक! तुम नित्य प्रात. क्या बोलते हो?' तोता भी विगत जन्म मे ब्राह्मण पुत्र था उसने विगत जन्म में पिता द्वारा रटाए गए गीता के प्रथम अध्याय की बात बताते हुए कहा, 'इसी ज्ञान–गर्व के कारण मे विद्वजनो का अपमान किया करता था और एक गीता पाठी ब्राह्मण के शाप के कारण मैं इस शुक योनि में आ पहुँचा।'

दुर्भाग्यवश बचपन में ही माता पिता से बिछोह हो गया। एक दिन भीषण गर्मी से त्रस्त होकर मैं मार्ग के किनारे मूर्च्छित जैसा पड़ा था कि दयावान ब्राह्मण मुझे अपने घर ले आया और मुझे पिंजरे में बंद कर मेरा पुत्रवत् पालन किया। वह ब्राह्मण नित्य गीता के प्रथम अध्याय का पाठ किया करता था। मुझे विगत जन्म से ही वह अध्याय कंठाग्र था। और ब्राह्मण के साथ रहने से अध्याय का पुन अभ्यास हो गया।

एक दिन ब्राह्मण के घर रात्रि में एक चोर आया। उसे और कुछ तो मिला नही, वह पिंजरे सहित मुझे उठा लाया और पतिता के साथ यहाँ छोड़ गया क्योकि पतिता उसकी प्रिया थी। इस तरह मैं पतिता के यहाँ रहकर नित्य प्रातः गीता के प्रथम अध्याय का पाठ किया करता था और पतिता उस पाठ का श्रवण मात्र ही करती थी जिससे इसका अंतःकरण शुद्ध हो गया है।

तोता बोला! 'हे ब्राह्मण पुत्र! इस पतिता ने वृषभ योनि में तुम्हें इसी प्रथम अध्याय का फल दान किया था जिससे तुम्हारी मुक्ति हुयी।'

भगवान् विष्णु बोले! हे लक्ष्मी! इस तरह तोते के मुख से गीता के प्रथम अध्याय का महत्त्व जानकर पतिता और ब्राह्मण भी नित्य गीता के प्रथम अध्याय का पाठ कर मुक्ति को प्राप्त हुए।

'जो भी मनुष्य गीता के इस प्रथम अध्याय का नित्य शुद्धतापूर्वक पाठ करता है, उसे निश्चय ही मुक्ति मिलती है।'

■

दूसरे अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, हे लक्ष्मी! प्रथम अध्याय का महत्त्व तो तुमने श्रवण कर ही लिया है अब मैं तुम्हें द्वितीय अध्याय का महत्त्व बतलाता हूँ।

जम्बू द्वीप के दक्षिण भाग में वेद–वेदांग के ज्ञाता ब्राह्मणों की पूर्वा नामक एक अत्यन्त रमणीय नगरी थी। उस नगरी में सुदेवज्ञ शर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह संतजनों की सेवा तथा स्वाध्याय, जप, तप, यज्ञ आदि प्रतिदिन किया करता था। एक दिन संत की सेवा करने के बाद उसने विनम्र भाव से उनसे निवेदन किया, हे महात्मन्! आप मुझे ज्ञान का उपदेश दें, जिससे मुझे शांति की प्राप्ति हो सके।

सत प्रवर ने सुदेवज्ञ शर्मा से कहा, तुम्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति कुछ समय पश्चात् ब्रह्मज्ञानी संत से ही होगी, यह कहकर संत प्रवर अपने गंतव्य की ओर प्रस्थान कर गये।

इधर सुदेवज्ञ शर्मा नित्य अधिकाधिक समय संतों की सेवा करने और देवाराधना में व्यतीत करने लगा। अंततः वह समय भी आ गया।

एक दिन जब वह संतों की सेवा कर रहा था, तब परम तेजस्वी, आत्मज्ञानी सत मित्रेश्वर का वहाँ आगमन हुआ। सुदेवज्ञ शर्मा ने मित्रेश्वर के चरण स्पर्श कर आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए विनीत भाव से प्रार्थना की। तब मित्रेश्वर ने सुदेवज्ञ के व्यवहार से प्रशन्न होकर कहा, सुनो विप्र, मैं तुम्हें एक आख्यान सुनाता हूँ।

किसी समय घने जंगल में एक गडरिया बकरियों को चराया करता था भाग्यवश मैं भी भ्रमण करता हुआ एक दिन उस घने जगल में जा पहुँचा। मैंने वहाँ देखा कि गड़रिया अन्य बकरियों को लेकर घर जा चुका था। लेकिन एक बकरी भटकते हुए बाघ के सम्मुख जाकर खड़ी हो गई। मुझे तो आश्चर्य तब हुआ जब बाघ भी बकरी से द्वेषता छोड़कर वही खड़ा रहा! मित्रेश्वर ने आगे कहा हे सुदेवज्ञ! मुझे इससे भी अधिक आश्चर्य तब हुआ जब मैंने उन दोनों का वार्तालाप सुना, जो इस प्रकार था।

बकरी बाघ से बोली, हे बाघ! मैं तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। स्वाभावानुसार तुम मेरा भक्षण क्यों नहीं करते?

तब बाघ बोला, 'इस स्थान पर आने से मेरे मन का वैरभाव समाप्त हो गया है इतना ही नहीं मुझे क्षुधा–तृष्णा भी नहीं सता रही इसी कारण मै तुम्हारा भक्षण नही कर रहा।'

बाघ की बात सुनकर बकरी बोली, हे बाघ! मैं भी इस स्थान पर आकर भयहीन हो गई हूँ। इसका कारण मुझे समझ में नहीं आ रहा।

बाघ ने कहा, इसका कारण तो मैं भी नहीं जानता। चलो, सामने खड़े उन तपस्वी से पूंछते हैं।

तब वे दोनो मेरे पास आए और उन्होंने मुझसे इस गुत्थी को सुलझाने की प्रार्थना की। फिर मै उन दोनों को लेकर एक वानर के पास पहुँचा। वह वानर त्रिकालदर्शी था।

वानर के समीप पहुँचकर बकरी और बाघ ने एक साथ अपनी समस्या रखी। तब वानर ने क्रमशः दोनों की बात सुनकर प्रत्युत्तर दिया, बकरी तुम पिछले जन्म में डायन थी। जब तुम्हारा पति दिवंगत हो गया तो तुम सुंदर लोगों का भक्षण किया करती थी। यह बाघ एक आखेटक था। एक दिन जब बाघ (विगत जन्म का आखेटक) जंगल में गया तो बकरी (डायन) भी वहाँ गई और उस आखेटक को भक्ष लिया इस जन्म में वही डायन बकरी बनी है और आखेटक बाघ।

वानर ने आगे कहा 'महात्मन्! निकट ही एक स्थान पर शिवलिंग अवस्थित है। उस शिवलिंग के निकट अन्य शिला पर श्रीमद् भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय उत्कीर्ण है उस अध्याय का जो भी नित्य पाठ करता है वह आत्मज्ञानी होकर मुक्त हो जाता है।

मैंने जब पूछा, इस जंगल में शिला पर यह किसने लिखा तब वानर ने बताया कि इसी स्थान पर एक ब्राह्मण ईश्वराधना किया करता था एक दिन एक आत्मज्ञानी संत वहाँ आया उस संत का ब्राह्मण ने खूब आतिथ्य सत्कार किया। तब प्रसन्न होकर उस संत ने इस शिला पर गीता का यह द्वितीय अध्याय लिखकर ब्राह्मण से कहा 'इस अध्याय का नित्य पाठ करने से तुम्हें मुक्ति मिलेगी। वह ब्राह्मण संत की आज्ञा से नित्य गीता पाठ करने लगा। कालांतर में वह देह त्याग कर भवबंधन से मुक्त हो गया।

फिर मित्रेश्वर ने कहा, 'हे सुदेवज्ञ ! तुम्हें भी नित्य गीता के द्वितीय अध्याय का पाठ करने से शांति मिलेगी। अतः तुम्हें इसका पाठ करना चाहिए।'

अंत में श्री हरि बोले, हे लक्ष्मी ! इस तरह मित्रेश्वर की आज्ञा से सुदेवज्ञ ने गीता के द्वितीय अध्याय का नित्य पाठ करना प्रारंभ किया। इसी के प्रताप से उसे मुक्ति की प्राप्ति हुयी।



तीसरे अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, 'हे प्राण प्रिये! किसी नगर में धनिक नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसने विजातीय वणिक स्त्री से विवाह रचाकर एक पुत्र उत्पन्न किया लेकिन उसकी वृत्ति हीन होने के कारण वह परायी स्त्रियों संग रमण किया करता था। द्यूत क्रीड़ा करना, मद्यपान करना, जीव हिसा करना उसकी नित्य क्रिया मे सम्मिलित थे। इतना होने पर भी वह अपने व्यवसाय कर्म से विमुख नहीं हुआ था। एक दिन वह व्यवसाय में अर्जित धन लेकर परदेश से घर लौट रहा था कि घने जगल में लुटेरों ने उसे लूट लिया और उसकी हत्या कर शव एक वृक्ष की शाखा से बांध कर चले गये।

इधर धनिक की पत्नी व पुत्र उसकी प्रतीक्षा करते रहे। जब अधिक दिन व्यतीत हो गये तो एक दिन धनिक का पुत्र अपने पिता को ढूँढ़ने के लिए घर से निकला। इधर–उधर भटकने के बाद एक दिन वह ऐसे मार्ग से गुजरा जहाँ घना जगल था। संयोगवश थकान के कारण वह उसी वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा जिस वृक्ष पर उसके पिता का शव लुटेरों ने लटकाया था। शव को तो वन्य हिंसक पशु–पक्षी भक्षण कर चुके थे। लेकिन उसकी आत्मा उसी वृक्ष के इर्द–गिर्द मडराती रहती थी।

वणिक पुत्र धर्मी–कर्मी व विद्वान् था। वह उस वृक्ष के नीचे संध्योपासना करने के बाद गीता के तृतीय अध्याय का पाठ करने लगा। जब पाठ समाप्त हुआ तो क्या देखता है उसका पिता आकाश में एक रमणीय व स्वर्ण–रथ पर पीताम्बर धारण किये आरूढ़ है उसके दोनों ओर भगवान् विष्णु के पार्षद भी खड़े हैं। वणिक ने अपने पुत्र से कहा 'पुत्र! गीता के तृतीय अध्याय के पाठ करने व उसका फल मुझे देने से मैं प्रेत योनि से मुक्त हो गया हूँ। अब तुम्हारा मुझे ढूँढ़ना व्यर्थ है, अत घर लौट जाओ।'

वणिक पुत्र ने पिता से आशीर्वाद प्राप्त कर जाने की अनुमति माँगी। तब वणिक ने कहा, पुत्र मेरा तो उद्धार हो गया है लेकिन तेरे कुल के अन्य लोग भी इसी प्रकार विभिन्न दुष्कृत्यों के कारण प्रेत योनियों में यातना भोग रहे हैं। तुम उनका भी उद्धार करो।

वणिक पुत्र ने उन सबका भी गीता के तृतीय अध्याय का पाठ कर उद्धार कर दिया।

इधर भगवान् विष्णु के दूत जब वणिक के कुलजनों को लेने यमलोक में गये तब यमराज भी विस्मय मे पड़ गये यद्यपि उन्होंने वणिक के कुलजनों को भगवान् विष्णु के दिव्य धाम तो भेज दिया तथापि विष्णु लोक पहुँचकर अपनी समस्या उनके समक्ष रखी।

यमराज ने क्षीर सागर में शेष शय्या पर विराजमान विष्णु भगवान की स्तुति कर कहा ' हे जगदाधार! आपके दूत अनेक जीवात्माओं को यमलोक से ले आए हैं। यदि इसी प्रकार होता रहा तो यमलोक का कार्य किस प्रकार चलेगा? किसको दंडित किया जायेगा?

तब भगवान् विष्णु बोले, हे यमराज! जो मेरा भक्त है या जिसके परिवार का कोई भी प्राणी गीता के तृतीय अध्याय का नित्य पाठ करता है, वह मेरे दिव्य धाम के योग्य हो जाता है। जिसके कुल का कोई प्राणी अपने पितरों के निमित्त गीता के तृतीय अध्याय का पाठ करके उसका फल उन्हें दे देता है तो वह भी मेरे दिव्य धाम को जाता है।

भगवान् विष्णु ने कहा, हे यमराज! जो भी मेरा भक्त हो या जो गीता के तृतीय अध्याय का नित्य पाठ या उस पाठ का श्रवण करता हो, उस जीवात्मा को तुम भी नरक की यातना मत देना। अब तुम अपने लोक को लौट जाओ।

इतना कहकर भगवान् विष्णु अंतर्ध्यान हो गये। यमराज भी यमलोक में आकर अपने कृत्य विधान में जुट गये।

भगवान् हरि बोले, हे लक्ष्मी! इस प्रकार गीता के तृतीय अध्याय का जो प्राणी पाठ करता है या पितरों के निमित्त उसका फल देता है, उन्हें कभी भी यम–यातना या प्रेम–यातना नहीं भोगनी पड़ती।

■

चौथे अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि ने लक्ष्मी जी से कहा, हे प्रिये! गीता के चतुर्थ अध्याय का नित्य पाठ करने वाला किसी को स्पर्श भी कर दे तो उसकी मुक्ति हो जाती है। इसी संदर्भ में अब मैं तुम्हें एक आख्यान सुनाता हूँ।

पुरातनकाल में जाह्नवी नदी के तट पर वसी कांची पुरी नगरी में एक मुनि का आश्रम था। वह योगनिष्ठ मुनि श्रीमद्भगवत् गीता के चतुर्थ अध्याय का नित्य पाठ करते हुए आत्मतत्त्व में लीन रहते थे। फलस्वरूप उनका चित्त शुद्ध हो गया था। उन्हें प्राकृतिक आपदाएं बिल्कुल भी त्रस्त नहीं करती थी। वह पूर्ण संतुष्ट थे।

एक समय की बात है कि वह देव दर्शनों के निमित्त यात्रा पर निकले यात्रा काल में पदयात्रा अधिक होने के कारण उनका शरीर थक गया तब वह विश्राम करने के उद्देश्य से बेर की झाड़ियों तले लेट गए। एक झाडी से उन्होंने टेक लगा ली तथा दूसरी झाड़ी की ओर चरण कर लिए।

विश्राम करने के पश्चात् मुनि अग्रिम यात्रा पर निकल पडे इधर दोनो झाड़ियाँ अल्पकाल में ही शुष्क हो गईं और उन्होंने उसी नगर के एक विद्वान् ब्राह्मण कुल में कन्याओ के रूप में जन्म ग्रहण किया।

काल क्रम के अनुसार वह वृद्धि को प्राप्त होती गईं। संयोगवश मुनि भी यात्रा सपन्न कर अकस्मात् उस ओर से ही निकल रहे थे। तब दोनों कन्याओं की दृष्टि उन पर पड़ी और उन्होंने चरण छूकर उनकी अनुशंसा करते हुए कहा, हे महात्मन्! आपकी कृपा से जड़ योनि से मुक्ति पाकर हम ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुई हैं।

दोनों की यह भेदपूर्ण बात सुनकर मुनि को आश्चर्य हुआ और उन्होंने उनसे कहा, 'हे देवियो! मुझे तो इसका पता नहीं है। लेकिन तुम झाड़ियाँ किस कारण बनी? किसके दोषवश तुम्हें यह भोग भोगना पड़ा।

तब दोनों कन्याओं ने मुनि को बताया हे मुनिश्रेष्ठ! एक समय की बात है – गोदावरी की तटवर्ती भूमि पर एक तपोनिष्ठ भीषण गर्मी में भी प्रचंड अग्नि के मध्य स्थित रहकर और शीत ऋतु में शीतल जल में रहकर तप किया करते थे। इंद्रिय

सयमी वह तपोनिष्ठ अंतर्मुखी थे। उनके कठोर तप से भयभीत देवराज इन्द्र ने हम दोनो को मुनि की तपस्या में विघ्न उपस्थित करने के लिए भेजा।

इन्द्र के आदेश से हम मुनि की तपस्या भंग करने के लिए वहाँ पहुँची। उस समय मुनि तप में लीन थे। हम दोनों ने वाद्यवादन, गायन, नृत्य व भाव–भंगिमाओं द्वारा मुनि को आकर्षित करना चाहा। जब हम यह सब कर ही रही थीं कि एकाएक मुनि ने नेत्र खोले और हमको देखकर क्रोधित हो गये। उन्होने हमें शाप दिया कि 'तुम दोनों गगा के तट पर बेर की झाडियाँ बन जाओ।'

शाप के कारण हम काँपने लगीं 'हमने करबद्ध हो मुनि से प्रार्थना की, 'हे महात्मन्! इसमें हमारा तनिक भी दोष नहीं है। देवराज इंद्र के आदेश से ही हम यह कृत्य करने को विवश थीं।'

वस्तुस्थिति का ज्ञान होने पर मुनि का क्रोध शांत हुआ। और उन्होंने मुक्ति का उपाय बताते हुआ कहा, 'जब कोई आत्मज्ञाता तपस्वी तुम्हारा स्पर्श करेगा, तब तुम्हारी मुक्ति होगी। लेकिन तुम्हारी स्मरण शक्ति यथावत् बनी रहेगी।'

उन दोनों ने कहा, हे महात्मन् जब हम झाड़ी के रूप में थीं, तब आपने ही अपने स्पर्श व गीता के चतुर्थ अध्याय का पाठ सुनाकर हमें मुक्ति दिलाई।

तत्पश्चात् उन्होने मुनि को प्रणाम कर वहाँ से प्रस्थान किया, मुनि भी अपने आश्रम की ओर चल दिये।

भगवान् हरि बोले, 'हे लक्ष्मी! इस प्रकार वह दोनों कन्याएँ भी गीता के चतुर्थ अध्याय का नित्य पाठ करने लगीं इसके प्रभाव से ही उन्हें मुक्ति मिली।



पाँचवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, 'हे लक्ष्मी! अब मैं तुम्हें पॉचवें अध्याय का महत्त्व बतलाता हूँ। प्राचीनकाल में मगधपुर नगर में एक कुलीन ब्राह्मण परिवार रहता था। उस परिवार के प्रमुख का नाम वैजंती था। वैजंती के पांच पुत्र थे। उनमे सबसे छोटा पुत्र पंचप्रभु बचपन से ही उदंड प्रवृत्ति का था। जब वह बड़ा हुआ तो वैजती की मृत्यु हो गई। उसके भाइयों ने पंचप्रभु की उद्दंडता व कुसंगत के कारण उसे घर से निकाल दिया। वह भटकता हुआ निकटवर्ती नगर के राजा के यहॉ कार्य करने लगा। उसकी कुसंगति व उदंडता यथावत् बनी रही। वह राजा से अन्य अन्य लोगों की बुराइयाँ करते हुए धन अर्जित करने लगा। स्त्रीगमन जैसा कृत्य तो वह नित्य ही करता रहता था।

अंतत. उसने ब्राह्मण जाति की ही एक स्त्री से विवाह भी कर लिया। वह स्त्री कुलटा थी। वह पंचप्रभु की बातों की सदैव अवहेलना करती थी। एक दिन दोनों मे आपसी कलह कुछ अधिक ही बढ़ गया। फलस्वरूप पंचप्रभु की पत्नी ने उसे विषपान कराकर मार डाला। मरने के बाद पंचप्रभु ने गिद्ध योनि मे जन्म पाया।

इधर पंचप्रभु की पत्नी भी कुछ समय पश्चात् दिवंगत हो गई और वह भी तोता बनी। दूसरे जन्म में उस तोती का संग एक तोते से हुआ।

एक दिन तोता–तोती डाल पर बैठे आपस में वार्तालाप कर रहे थे कि वहॉ एक गिद्ध आया। गिद्ध पुनर्जन्म की बातें भूला नहीं था। उसने पहचान लिया कि यह वही ह जिसने उसे विष देकर मार डाला था। वह तोती पर झपटा।

तोती प्राणों को बचाती हुई अंततः एक मानव कपाल में गिर पड़ी। उस कपाल मे वर्षा का कुछ जल भरा था। उस जल में गिरकर तोती ने प्राण त्याग दिये।

उधर गिद्ध भी वहाँ आया और उसने तोती को जीवित समझकर प्रहार किया इस कारण उसकी देह में भी उस जल के छींटे पड गये। उस जल के प्रभाव से गिद्ध भी मर गया।

उन्हे परम धाम भेजने का आदेश दिया। तब उन्होने धर्मराज से पूछा, 'धर्मराज! हम लोगो ने पूरी आयु दुष्कृत्य ही किए हैं। हमारी समझ में नहीं आ रहा कि हमारे कौन से पुण्य उदय हुए जिनके कारण हमें मोक्ष मिला है।'

तब धर्मराज ने बताया, 'हे जीवों! तुम दोनों ने जिस मानव कपाल के जल के कारण देह त्यागी थी, वह एक तपोनिष्ठ की थी। वह तपोनिष्ठ ब्राह्मण ब्रह्मज्ञाता, एकांत सेवी, निर्लेप होने के साथ ही नित्य गीता के पांचवें अध्याय का पाठ भी किया करता था। जो जीव गीता के पाँचवें अध्याय का नित्य पाठ करता है वह देहमुक्त हो जाता है। उसी ब्राह्मण के कपाल में भरे जल के प्रभाववश तुम्हारी भी मुक्ति हुई है।

तब भगवान् हरि बाले; हे लक्ष्मी! इस प्रकार पाँचवें अध्याय का पाठ करने वाले ब्राह्मण के कपाल में भरे जल से ही तोती व गिद्ध को परम पद की प्राप्ति हुई। गीता के पाँचवें अध्याय का इतना अधिक महत्त्व है।



छठे अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, 'हे देवी! अब मैं तुम्हें छठे अध्याय का महत्त्व बतलाता हूँ इस अध्याय का नित्य–पाठ श्रवण करने से तेजस्विता व मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्राचीन काल में गोदावरी के तट पर प्रतिष्ठानपुर (पैठण) नामक एक नगर मे ज्ञातश्रुति राजा का शासन था। वह तपोनिष्ठ, धर्मी, न्यायप्रिय व प्रजाप्रिय राजा नित्य यज्ञादि कर्म किया करता था, जिससे उसके राज्य पर इंद्रदेव की कृपा बनी रहती थी। इसी के प्रभाव से उसका राज्य समृद्ध भी था।

एक दिन ज्ञातश्रुति अपने महल की छत पर टहल रहा था, तभी आकाशमार्ग से हंसों के रूप में देव समूह उधर से निकला। हंसों में दो हंस तीव्र गति से जा रहे थे। शेष मंदगति से चलते हुए पीछे छूट गये थे। पीछे वाले हंसों ने कहा, 'अरे! तुम लोग तीव्र गति में चले जा रहे हो! क्या तुम्हें तपोनिष्ठ ज्ञातश्रुति का तनिक भी भय नहीं है?

पीछे वाले हंसों की बात को सुनकर आगे वाले दो हस बोले, 'इस राजा का तप इतना अधिक भारी नहीं जितना रैक्व मुनि का है।'

राजा ज्ञातश्रुति ने जब रैक्व मुनि का नाम सुना तो उसे आश्चर्य हुआ उसने नीचे उतरकर अपने सारथी को रैक्व मुनि को अपने साथ ले आने का आदेश दिया।

राजा की आज्ञा पाकर सारथी उस अरण्य में गया जहां रैक्व मुनि रहते थे। जब वह उनके समीप पहुँचा तब मुनि एक वृक्ष के नीचे बैठकर अंग खुजला रहे थे।

सारथी ने उन्हें श्रद्धावत् प्रणाम किया और पूछा हे मुनिश्रेष्ठ! आप इस वृक्ष तले किस प्रयोजन से विराजित हैं? कृपा कर हमारे राजन् ज्ञातश्रुति के प्रासाद को चलकर पवित्र करें।'

यह सुनकर रैक्व मुनि ने कहा, हे राज सेवक! हम स्वच्छद वृत्ति के हैं किसी से भी हमें कोई अभिलाषा नहीं है।

मुनि के वचनों को सुनकर सारथी राजा ज्ञातश्रुति के पास पहुँचा और जैसा मुनि ने कहा था वैसा ही उन्हें कह सुनाया।

सारथी की बात सुनकर राजा के मन में मुनि के प्रति श्रद्धा भाव उमड पड़ा। वह अश्वरथ मे विभिन्न रत्न, वस्त्र, आहार तथा साथ में एक हजार गौएं लेकर मुनि की सेवा में अर्पित करने लगा और मुनि को दंडवत् प्रणाम कर राजा ने कहा।, हे मुनि! मैं आपके लिए यह तुच्छ भेट लाया हूँ। आप इसे स्वीकार कर हमें अनुग्रहीत करे।

मुनि इतने अधिक उपहारों को देखकर राजा ज्ञातश्रुति पर क्रोधित हो गये। मुनि के क्रोध से भयभीत राजा ने कहा, 'हे मुने! आपके भाव को मैं निबुद्धि समझ नहीं पाया। आप मुझे क्षमा करें। वह बार–बार मुनि के चरणों में गिर पड़ता।

अंततः मुनि को दया आ गई और वह राजा से बोले, हे राजन! तुम्हारा मनोरथ क्या है? मुझसे स्पष्ट कहो।

तब राजा ज्ञातश्रुनि ने कहा हे मुने! आपकी इस तेज राशि का रहस्य क्या है? मैं केवल इतना ही जानने का इच्छुक हूँ। क्यों कि आपकी यह तेजराशि देवताओं के लिए भी सहनीय नही है।

तब मुनि रैक्व ने बताया 'हे राजन! मुझे यह तेज राशि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के छठे अध्याय का नित्य पाठ करने से प्राप्त हुई है।'

तेज राशि का रहस्य जानकर राजा ने मुनि को प्रणाम कर अपने राज्य की ओर प्रस्थान किया। मुनि भी स्वच्छंद रूप से विचरते हुए अरण्य में चले गये। इध ार राजा नित्य छठे अध्याय का पाठ कर तेजस्वी हुआ और अंत में परमपद को प्राप्त किया।

भगवान् हरि बोले, हे प्रिये! जो मनुष्य श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के छठें अध्याय का नित्य पाठ करता है, वह विष्णुस्वरूप होकर विष्णुलोक में जाता है। यही इस अध्याय का महत्व है।

■

सातवें अध्याय का महत्त्व

श्री हरि ने कहा, 'हे देवी। अब मैं तुम्हें सातवें अध्याय का महत्त्व बतलाता हूँ, जिसके श्रवण से ही पातकों से मुक्ति मिल जाती है।

किसी काल मे पाटलिपुत्र नगर में शुकुवर्ण नामक ब्राह्मण रहता था उसने वणिक वृत्ति से पर्याप्त धन अर्जित किया था। लेकिन वह हीन वृत्ति का था। न कभी धर्म–कर्म करता था और न ही अतिथि सेवा। वह सदैव धन का ही चितन किया करता था।

एक दिन जब वह धन अर्जित कर घर लौट रहा था, तब उसे काले सर्प ने डंस लिया कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। अकाल मृत्यु के कारण वह धन मे वृत्ति होने के कारण सर्प योनि में उत्पन्न हुआ और उसी स्थान पर बिल मे रहने लगा। जहाँ उसने पूर्वजन्म में धन गाड़ रखा था।

इस प्रकार सर्पयोनि भोगते हुए जब अधिक समय व्यतीत हो गया तब उसने एक दिन अपने पुत्रों को स्वप्न में दर्शन देकर कहा, हे पुत्रों! अमुक स्थान पर मैंने पिछले जन्म में धन गाड़ दिया था। धन में ही मेरा मोह होने के कारण मुझे सर्पयोनि की प्राप्ति हुई और मैं उसी स्थान पर रहता हूँ जहाँ धन गडा है। अब तुम लोग वह धन निकाल लो और मुझे सर्पयोनि से मुक्ति दिलाओ।

अपने पिता की दुर्गति को देखकर पुत्रों को अपारपीड़ा हुयी उन्होंनें पिता से पूंछा 'हे पिताश्री! आपकी मुक्ति का क्या उपाय है? कृपया मार्ग निर्देशन करें।

तब उस ब्राह्मण ने कहा 'पुत्रों। किसी गीतापाठी ब्राह्मण को भोजन कराकर उनसे मेरे निमित्त गीता के सातवें अध्याय का पाठ करवाओगे तो मुझे इस सर्पयोनि से मुक्ति मिल जायेगी।'

दूसरे दिन चारों भाई एकत्र हुए और स्वप्न की बात एक दूसरे को बताई। चारों को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सबका स्वप्न एक जैसा ही था। अंतत उन चारों ने मिलकर पिता द्वारा निर्देशित स्थान से गड़ा धन निकाल लिया और गीता पाठी ब्राह्मण से गीता के सातवें अध्याय का फल अपने पिता के निमित्त दान करवाया। साथ ही गीता पाठी ब्राह्मण को भरपेट भोजन कराकर तथा दान–दक्षिणा

देकर संतुष्ट किया। धार्मिक कृत्य भी सपन्न कराए। उन चारों ने अपने कजूस पिता द्वारा एकत्र धन से नगर में पौशाला, मंदिर, पंथशाला आदि का निर्माण कराकर उस धन का सदुपयोग किया।

भगवान् हरि बोले, 'हे प्रिये! इस प्रकार गीता के सातवें अध्याय के प्रभाव वश वह ब्राह्मण सर्प योनि से मुक्त होकर भगवान् विष्णु के परमधाम को गया। इस सातवें अध्याय को श्रवण करने मात्र से ही जीवों के घोर पापकृत्य नष्ट हो जाते हैं।'



आठवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि ने कहा, हे देवी! अब मैं इस आठवें अध्याय का महत्त्व तुम्हें बतलाता हूँ।

अति प्राचीन काल की बात है। नर्मदा के दक्षिणी तट पर कदमपुर नामक एक नगर में शुभाव शर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। बाह्मण होकर भी वह हीन वृत्तियों से ग्रस्त था। नित्य मदिरापान करना, परनारी संग रमण करना, धन की चोरी करना, मांस खाना उसका स्वभाव बन चुका था। एक दिन उसने छककर ताड़ी का सेवन किया। ताड़ी के प्रभाववश वह रोगग्रस्त होकर काल के गाल में समा गया और अगला जन्म उसने वृक्ष के रूप में पाया। इस वृक्ष तले ब्रह्मराक्षस रूप से एक ब्राह्मण युगल रहने लगा।

ब्राह्मण युगल विगत जन्म मे प्रलोभनवश दान की सामग्री ग्रहण करता था, जब कि अन्य ब्राह्मणों को कुछ भी नहीं देता था। अंततः काल आने पर ब्राह्मण युगल की मृत्यु हुयी। तब वही ब्राह्मण युगल ब्रह्मराक्षस बना जो इस वृक्ष के तले रहने लगा था।

एक दिन ब्रह्मराक्षस की पत्नी ने ब्रह्मराक्षस से पूछा, 'हे स्वमी! हमे इस योनि से कब मुक्ति मिलेगी?'

प्रत्युत्तर में ब्रह्मराक्षरा ने कहा, 'मुक्ति का एक ही उपाय है, ब्रह्मविद्या का उपदेश, अध्यात्म का चिंतन, कर्मविधि का ज्ञान।'

इतना सुनकर ब्रह्मराक्षस की पत्नी ने पूछा 'हे पुरुष श्रेष्ठ! ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है?

ब्रह्मराक्षस की पत्नी ने इतना ही पूछा था कि इस अर्द्धश्लोक के प्रभाववश वह वृक्ष मानव देह में परिवर्तित हो गया। यह वही शुभाव शर्मा था जो दुर्व्यसनों के कारण वृक्ष बना था। इस अर्द्धश्लोक के श्रवण मात्र से ही उसका योनि परिवर्तन हो गया। श्लोक के प्रभाव के कारण ही वह ब्रह्मराक्षस युगल ब्रह्म योनि से मुक्त हो गया।

तभी आकाश में ज्योति प्रभा से जगमगाता रत्न जड़ित एक अलौकिक विमान उन्हें दृष्टिगोचर हुआ तथा वह ब्रह्मराक्षस युगल उस विमान में चढ़कर दिव्यधाम को प्रस्थान कर गया।

इधर शुभाव शर्मा उस अर्द्ध श्लोक को श्रद्धाभाव से लिखकर भगवान् विष्णु की साधना करने के उद्देश्य से पावन नगरी काशी चला गया। उसने घोर तप किया। उसके तप से भगवान् विष्णु व्यग्र होकर एकाएक ही जागकर खडे हो गए।

तब लक्ष्मी जी ने पूछा हे प्राणेश्वर! आप एकाएक ही इस प्रकार क्यों व्यग्र हो गये? इस पर विष्णु बोले, 'हे देवी! पावन नगरी काशी में पवित्र पावनी गंगा के तट पर शुभाव शर्मा मेरी घोर आराधना कर रहा है। वह गीता के अष्टम अध्याय के जिस अर्द्धश्लोक का वाचन कर रहा है उससे मुझे संतुष्टि हुई है तथा अब मैं उसे इस तप का फल देना चाहता हूँ।'

लक्ष्मी जी ने भगवान् हरि से पूछा 'क्या आठवें अध्याय का इतना महत्त्व है?' भगवान् ने कहा, हे देवी! इस अध्याय का पाठ करने से मेरी कृपा से जीव को परमपद की प्राप्ति होती है, इतना ही नहीं उस जीव के वंशजों का भी निश्चय ही उद्धार होता है। अतः हे सुभगे! श्री मद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय का अति महत्त्व है इसका नित्य ही पाठ करना चाहिए।



नवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, 'हे देवी ! अब मै तुम्हें नौवें अध्याय का महत्त्व बतलाता हूँ। प्राचीनकाल की बात है–नर्मदा नदी के किनारे बसी महेश्वर नगरी में सुदेव नामक एक क्षत्रिय रहता था। वह धर्म–कर्म किया करता था उसके पास धन का अभाव था तो यह कि उसके कोई संतान नहीं थी।

एक दिन उसने एक संत की सेवा की। इससे प्रसन्न होकर संत ने संतान प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा, 'तुम संतान प्राप्ति यज्ञ का अनुष्ठान करो और बकरे की बलि दो तो तुम्हारे अवश्य ही संतान होगी'

सुदेव ने यज्ञानुष्ठान किया और एक बकरा मंगवा लिया। जब अनुष्ठान पूरा हुआ तो बकरे को नहला धुलाकर सजाया गया और यज्ञ स्थल पर लाया गया। लेकिन तभी एक आश्चर्य हुआ।

यज्ञ वेदी पर खड़ा बकरा खिलखिला कर हँस पड़ा। इस पर सुदेव ने उससे पूछा, 'तुम हँसे क्यों ?'

तब बकरे ने कहा हे भद्र पुरुष ! इस प्रकार के यज्ञ का क्या लाभ है ? किसी की बलि देने से तो अनिष्ट ही होता है। क्योंकि मुझे भी इसी कारण बकरे की योनि मिली है।

बकरे की बात को सुनकर यज्ञ मंडप में उपस्थित सभी लोग हतप्रभ रह गए। तब सुदेव ने करबद्ध होकर बकरे के व्रत्तांत को जानना चाहा।

तब बकरे ने कहा हे भद्र पुरुष ! पूर्व जन्म में मैं ब्राह्मण था कुल भी श्रेष्ठ था। एक दिन किसी कापालिक के कहने पर मेरी पत्नी ने संतान प्राप्ति के निमित्त माँ काली को बकरे की बलि देनी चाही। मैं बकरी सहित एक शिशु बकरा क्रय कर लाया। हम लोग बकरी का स्तनपान कर रहे शिशु बकरे को बलात् काली मदिर में बलि देने के लिए ले जाने लगे। तभी बकरी ने शाप दिया हे ब्राह्मण ! तुम स्तन पान करते मेरे शिशु को बलि देने के इच्छुक हो तो तुम्हें भी बकरे की योनि प्राप्त होगी।'

बकरा बोला हे भद्र पुरुष ! कुछ काल पश्चात् मेरी मृत्यु हो गई और मै अनेक योनियों में भटकता हुआ बकरे की योनि में आ गया लेकिन पुनर्जन्म का

वृत्तान्त मुझे अब भी याद है, जो मैंने तुम्हें सुना दिया।

अब एक और वृत्तांत भी सुनाता हूँ। यह इससे भिन्न है। मोक्षदायिनी नगरी कुरुक्षेत्र में सुदर्शन नामक राजा राज करता था। एक बार जब सूर्य ग्रहण पड़ा तब राजा ने विद्वान ब्राह्मण से पूछा, 'हे ब्राह्मण देव! मुझे सूर्य ग्रहण काल में किस वस्तु का दान करना चाहिए जिससे अनिष्ट दूर हो?'

तब ब्राह्मण ने बताया 'हे राजन! आप काल–पुरुष का दान करें।'

राजा ने गंगा स्नान कर पवित्रता पूर्वक एक ज्ञानी पंडित को काल पुरुष का दान किया। जैसे ही ज्ञानी पंडित ने काल पुरुष को दान रूप में स्वीकार किया, उसका वक्षस्थल विदीर्ण कर एक चांडाल व चांडालिनी का प्रादुर्भाव हुआ। चाडाल–चांडालिनी तुरंत ब्राह्मण के शरीर में बलात् समाने लगे। ब्राह्मण ने मन–ही–मन गीता के नौवें अध्याय का मानसिक जाप करना प्रारंम्भ किया।

सभी कौतूहलवश देखने लगे। ब्राह्मण बराबर नौवे अध्याय का मनन करता रहा। इधर चांडाल–चांडालिनी का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। तब सुदेव ने ब्राह्मण से पूछा हे ब्राह्मण देव! यह चमत्कार कैसे हुआ? वह स्त्री पुरुष कौन थे? उनका प्रयोग क्यों कर सफल नहीं हुआ?

ब्राह्मण बोला, 'हे राजन! वह चांडाल पाप था और चांडालिनी निंदा थी। जैसे ही वह मेरे शरीर में प्रविष्ट होने लगे मैंने गीता के नवे अध्याय का मनन प्रारंभ कर दिया। उसी के प्रभाव से उनका प्रयास विफल हुआ।'

श्री हरि बोले हे देवी! इस प्रकार सुदेव नामक राजा भी गीता के नौवें अध्याय का पाठ करने लगा। अंतत वह दोनों ही भवबंधन से मुक्त हो गये।



दसवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले हे कमलिनी! अब तुम गीता के दसवे अध्याय का महत्त्व श्रवण करो। इसके प्रभाव से जीव परमपद को पाता है।

कांचीपुरी मे धैर्यवान नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह मेरा परमभक्त होने के कारण मुझे प्रिय था। सदैव एकाग्र मन से वह सच्चिदानंदघन भगवान् के ही ध्यान मे लीन रहता था। इसी से वह शांत वृत्ति का दयावान, इंद्रिय संयमी, सपूर्ण शास्त्रों के तत्त्व का ज्ञाता था। जब वह मार्ग में चलता था तो मै उसे सहारा दिया करता था।

यह देखकर शिवजी के गण भृंगी को विस्मय हुआ। उसने उनसे पूछा 'हे दयानिधान! इसने ऐसा कौन–सा जप तप किया है जिसके फलस्वरूप श्री हरि स्वयं इसकी चलने में सहायता करते हैं।'

भृंगी के संशय का निवारण करते हुए शिव ने उसे बताया, हे भृंगी! सुनो! एक बार मैं कैलाश पर्वत के पार्श्व भाग में बैठा हुआ था। तभी वेगवती आंधी के चलने से अनेक वृक्ष टूटकर गिर पड़े तथा विकंपित स्वर गूंजने लगा।

अल्पकाल पश्चात् ही आकाश से एक विशालकाय पक्षी उतरा जिसका वर्ण काला था उसने मुझे प्रणाम कर एक कमल पुष्प अर्पित किया और इस प्रकार मेरी स्तुति की:

हे देवाधिदेव! आप ही सृष्टि के पालनकर्ता, आनन्दप्रदाताचित् स्वरूप हो। आपका कोई पार नहीं पा सकता है। देव! आपकी जय हो। आप ही आत्मनिष्ठ भक्तों को आत्मा रूप से दर्शन किया करते हो आपका कोई आकार नहीं है। त्रिगुणों से पृथक् अहंकार से शून्य, अजन्मे, प्रपंचों से निर्लेप रहने वाले हैं। हे प्रभु! आप शरणागतों के रक्षक, कामदेव को भस्म करने वाले हैं। हे माहेश्वर! आपकी जय हो। मुनिगण जिन चरणों को नित्य ध्याते हैं, उन्हीं चरणों की मैं वंदना करता हूँ। आपकी महिमा को देव–दानव, मनुज भी नहीं जानते, तब मुझ साधारण पक्षी को आपके स्वरूप का ज्ञान कैसे हो सकता है! हे सदाशिव! आपकी जय हो। आपको मैं बार–बार प्रणाम करता हूँ।

उस पक्षी की विनयपूर्ण प्रार्थना को सुनकर मैंने उससे पूछा, हे नभचर! तुम कौन हो और कहाँ से आए हो तथा तुम्हारी यह गति कैसे हुई? लगते तो तुम हंस हो लेकिन तुम्हारा वर्ण काला कैसे है?

तब वह नभचर बोला, 'हे महादेव! मैं ब्रह्माजी का हंस हूँ वैसे तो आप सर्वांतर्यामी हैं। तदापि अपनी इस दुर्गति का कारण आपको' बतालाता हूँ।

मैं मोती चुगने के लिए मानसरोवर की ओर जा रहा था कि एकाएक मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। काफी समय के अंतराल पर जब मेरी चेतना लौटी तो मैंने विचार किया कि किस कारण से मेरी यह गति हुई? मेरा हिम सद्रश श्वेत वर्ण काला कैसे हो गया। मैं ऐसा विचार कर ही रहा था कि निकटवर्ती जलाशय से किसी का स्वर सुनाई दिया, हे हंस! उठो तुम्हारे इस संशय का निवारण मैं करती हूँ।

उस स्वर को सुनकर जब मैं उस जलाशय के निकट पहुँचा तो यह देखकर हतप्रभ रह गया कि वह स्वर एक कमलिनी का था। मैंने श्रद्धावत अपनी दुर्गति का कारण पूछा तो कमलिनी बोली, 'हे हंस! नभमार्ग से जाते समय तुमने मुझे लाघ दिया था। इसी कृत्य के फलस्वरूप तुम प्रथ्वी पर मूर्च्छित होकर गिर पड़े और तुम्हारा वर्ण भी काला पड़ गया। तुमको पृथ्वी पर गिरा देखकर मुझे दया आ गई और मैं बोल पड़ी। मेरे बोलने से मेरे दुख से निकली गंध को सूंघने के कारण साठ हजार भ्रमर भी मुक्त हो गये।

हंस बोला हे प्रभो! मैंने उस कमलिनी से पूछा, तुम्हें यह योनि किस प्रकार मिली?' तब कमलिनी ने इस प्रकार बताया, हे पक्षीराज! पिछले जन्म में मैं ब्राह्मण पुत्री थी तब मेरा नाम कमलमुखी था। मैं संतजनों की सेवा करती थी। इससे मुझे पतिव्रत धर्म में प्रायः विलंब हो जाया करती थी। एक बार मैं मैना को पढ़ा रही थी। तब पति सेवा में विलंब के कारण पतिदेव ने मुझे मैना होने का शाप दे दिया मैं मैना के रूप ब्राह्मण के घर रही। समय जैसे–जैसे व्यतीत हो गया। उस ब्राह्मण के घर में मैं नित्य गीता के दसवें अध्याय के पाठ को सुना करती थी उसके प्रभाव से मरणोपरांत मुझे अप्सरा की योनि मिली।

एक दिन मैं आकाश मार्ग से गुजर रही थी कि मेरी दृष्टि एक जलाशय पर पड़ी और मन में जल क्रीड़ा का भाव जागा। नीचे उतर कर मैं निर्वस्त्र होकर स्नान करने लगी। तभी वहाँ महर्षि दुर्वासा का आगमन हुआ। उन्हें देख कर मैंने

कमलिनी का स्वरूप बना लिया। दुर्वासा इस बात को जान गए और उन्होंने मुझे सौ वर्ष तक इसी अवस्था मे रहने का शाप दिया लेकिन मुझे गीता के दसवें अध्याय का स्मरण बना रहा। उसके प्रभाव से मैं बोल सकने में समर्थ हूँ लेकिन अब मेरा वह समय समाप्त हो गया है। हे पक्षीराज! तुम भी दसवें अध्याय का श्रवण करो इससे अवश्य मुक्ति मिलेगी।

'इतना कहकर उसने मुझे इस अध्याय का श्रवण कराया और अंत में मुझे यह पुष्प दिया जो मैंने आपको अर्पित कर दिया।'

'हे भृंगी! इस प्रकार अपना वृत्तात बताकर उस हंस ने अपना शरीर त्याग दिया। अगले जन्म में वही हंस यह श्रेष्ठ ब्राह्मण हुआ। अब यह भगवान् चतुर्भुज के ध्यान में ही लीन रहता है। यह प्रेम पूरित भाव से जिस किसी को भी देखता है, वह कितना ही दुरात्मा क्यों न हो, उसकी मुक्ति हो जाती है। जीवन मुक्त होने के कारण ही इस ब्राह्मण को श्री हरि अपने हाथों का सहारा देते हैं।'

भगवान् बोले देवी! गीता के इस दसवें अध्याय का यदि कोई प्राणी श्रवण मात्र भी करता है तो उसे चारों आश्रमों के धर्म पालन का फल मिलता है।

ग्यारवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, हे देवी! गीता के ग्यारहवें अध्याय का महत्त्व अपने आप मे विलक्षण है। क्योकि इसमें मेरे विराट स्वरूप की झांकी प्रस्तुत की गई है। वैसे तो इस संदर्भ में अनेक कथाएँ सुनने को मिलती हैं। लेकिन मात्र एक कथा के द्वारा मै इसके महत्व का तुम्हारे सामने वर्णन करता हूँ। सुनो :

तुंगभद्रा नदी के तट पर वटसंकर नामक एक रमणीय नगर है। उस नगर की रमणीयता के अनुरूप ही उसमें निवास करने वाले भी हैं। मैं भी वामन विग्रह से उस नगर में विराजता हूँ। मेरे वामन रूप का दर्शन कर प्राणी भवबंधन से मुक्त हो जाते हैं उस नगर के पार्श्व में ही एक पवित्र सरोवर है, जिसमें स्नान करने वाला जीव अवश्य मोक्षपद पाता है। उस सरोवर के निकट ही भगवान् नृसिंह व गणेश जी भी विग्रह रूप से स्थित हैं। जिनके दर्शन लाभ प्राप्त कर जीव पापविनोचित होता है तथा भयंकर आपदाओं को सुगमता से पार कर पाता है।

उसी वटसंकर नगर में नदा नामक एक तपोनिष्ठ, वेद पाठी ब्राह्मण रहता था। वह नित्य गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ किया करता था और भगवान् के तत्त्व रूप में लीन रहा करता था।

एक बार की बात है – वह ब्राह्मण तीर्थों का भ्रमण करता हुआ मंडल नामक नगर में पहुँचा। इसी नगर में भयंकर राक्षस निवास करता था, जो नित्य वहाँ के निवासियों का भक्षण किया करता था। ब्राह्मण ने वहाँ इधर–उधर भटकने के बाद एक घर के द्वार पर पहुँचकर रातभर के लिए शरण माँगी। भाग्यवश वह घर नगर प्रमुख का था। नगर प्रमुख ने उस ब्राह्मण को घर में स्थान न देकर एक धर्मशाला मे ठहरा दिया। उस धर्मशाला में अन्य यात्रीगण भी विश्राम कर रहे थे। रात को वह ब्राह्मण धर्मशाला में सो गया। दूसरे दिन जब नींद खुली तो उसने स्वयं को धर्मशाला के द्वार पर पाया तथा अन्य यात्रीगण उसको कहीं भी दिखायी नहीं पडे।

कुछ देर बाद ही नगर प्रमुख भी इधर आ निकला। उसने ब्राह्मण को जीवितावस्था में देखकर उसके पैर पकड़ लिये और बोला, 'हे ब्राह्मण देव! आप

अवश्य ही अलौकिक प्रभाव के स्वामी हैं। वरना वह राक्षस आपको भी जीवित नही छोड़ता। अब आप इसी नगर में मेरे घर पर निवास कीजिए।'

इस प्रकार ब्राह्मण को लेकर नगर प्रमुख घर आ गया और उस ब्राह्मण देव की सेवा करने लगा। उसने ब्राह्मण से प्रार्थना की, 'हे ब्राह्मणदेव! आप कोई ऐसा उपाय करें जिससे वह राक्षस लोगों का भक्षण बंद कर दे। क्योंकि रात मेरा पुत्र भी आपने मित्र के साथ धर्मशाला में सोया था जिसमें आप सो रहे थे। मुझे शका है कि उस राक्षस ने मेरे पुत्र को भी भक्ष लिया है।'

ब्राह्मण के पूछने पर नगर प्रमुख ने बताया कि इस नगर में एक राक्षस का आतक व्याप्त है। वह प्रत्येक दिन किसी न किसी को घर से उठाकर भक्ष लेता है। एक दिन हम नगरवासियों ने राक्षस से प्रार्थना की, 'हे नरभक्षी ! इस धर्मशाला मे जो शयन करे उसी का तुम भक्षण किया करो।' उस राक्षस ने बात मान ली। उसके बाद वह धर्मशाला में शयन करने वाले लोगों को ही उदरस्थ करने लगा। लेकिन कल तो मेरा पुत्र भी इसी धर्मशाला में शयन कर रहा था हो–न–हो उस राक्षस ने ही मेरे पुत्र का भक्षण कर लिया। हे ब्राह्मण देव! आप कोई ऐसा उपाय करे कि वह जीवित हो जाय।

इस प्रकार नगर प्रमुख की बात सुनकर ब्राह्मण बोला, चलो उस राक्षस को देखते हैं।

नगर प्रमुख व ब्राह्मण दोनों उसी समय उस राक्षस के पास गये। तब राक्षस धर्मशाला के पार्श्व में ही था। नगर प्रमुख ने उनसे कहा।, अरे दुष्टात्मा! तूने मेरे पुत्र को भी खा लिया ? राक्षस बोला, ऐसा अज्ञानवश हुआ है, मुझे तुम्हारे पुत्र के विषय में जानकारी नहीं थी।

ब्राह्मण ने पूछा, 'हे दैत्य! तुम्हे यह योनि किस दोष के कारण प्राप्त हुयी है ? और इस योनि से मुक्ति का कोई उपाय तुम्हें ज्ञात है ?'

तब राक्षस ब्राह्मण से हाथ जोड़कर बोला, हे बाह्मण देव! अपनी इस दुर्गति का कारण मैं आपको बतलाता हूँ:-

पिछले जन्म में मैं ब्राह्मण था। एक दिन मैं अपने घर के बगीचे में बैठा था। वहीं एक गिद्ध किसी पक्षी को मारकर खा रहा था। लेकिन मेरा ध्यान उस ओर नहीं था। तभी उधर से एक तपस्वी निकला और मुझे देखकर बोला, 'हे दुष्ट ! तेरे सामने ही एक गिद्ध पक्षी को मारकर खा रहा है और तू उसे खाते हुए देख रहा

है लेकिन छुड़ा नहीं रहा। अरे नीच! जो प्राणी समर्थ होते हुए भी किसी की रक्षा नही करता वह भीषण नरक में जाता है तथा अनेक योनियो में भटकता है, तब उस तपस्वी ने क्रोधित होकर मुझे शाप दे दिया, 'नराधम! जा तू राक्षस हो जा। क्योंकि तूने समर्थ होते हुए भी शरणात की रक्षा नहीं की।'

तब उसके शाप से मैं भयभीत हो गया और इस शाप मुक्ति का उपाय पूछा तो वह तपस्वी बोला, 'हे नर! जो पुरुष गीता के ग्यारहवें अध्याय का सात बार पाठ करके उससे जल अभिमंत्रित कर तुझ पर छींटे मारेगा तो तुझे राक्षस योनि से मुक्ति मिल जायेगी। साथ ही उन जीवों को भी मुक्ति मिलेगी जिनका तू भक्षण करेगा।'

इतना कहकर वह राक्षस बोला, हे ब्राह्मणदेव! इसी कारण मुझे यह अधम योनि मिली है। यदि आप गीता के ग्यारहवें अध्याय के पाठ द्वारा अभिमंत्रित जल मुझ पर छिड़कें तो मुझे मुक्ति मिल सकती है।

तब ब्राह्मण ने ग्यारहवें अध्याय का सात बार पाठ कर जल को अभिमंत्रित कर राक्षस पर छिड़का तो वह चतुर्भुज रूप होकर बैकुठ को जाने लगा। उसके साथ–साथ जिनका उसने भक्षण किया था, वे भी चतुर्भुज रूप होकर बैकुंठ को जाने लगे। तब नगर प्रमुख ने राक्षस से पूछा, हे राक्षस! इनमे मेरा पुत्र कौन सा है? तब राक्षस ने हाथ के इशारे से कहा, 'वह जो अन्य लोगों से पृथक् श्यामल वर्ण का है, वही तुम्हारा पुत्र है।'

इतना जानकर नगर प्रमुख ने अपने पुत्र से कहा, पुत्र! चलो। अब घर चलें।'

वह चतुर्भुज रूपधारी जीव बोला – मैं तुम्हारा इस जन्म में पुत्र अवश्य था। लेकिन पिछले जन्म में मैं ही तुम्हारा पिता भी था। यह सांसारिक बंधन है। यह आपसी संबंध तो एक–दूसरे के ऋणमोचन के लिए ही बनाए गए हैं। जो इनमे रमता है, वही इन बंधनों में पड़ता है। पुत्र रूप में उत्पन्न होकर मैंने तुम्हारा पिछला ऋण चुका दिया है।

भगवद् कृपा के द्वारा ही मुझे मुक्ति मिली है। जिस कुल में एक भी सुपात्र व्यक्ति होता है उसकी कई पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है। अतः मेरे साथ–साथ तुम परिजनो का भी निश्चित रूप से उद्धार होगा। अब आप नियमपूर्वक गीता के ग्यारहवें अध्याय के कर्म को समझकर उसी का नित्य

पाठ करो यही मुक्ति का उपाय है।

इतना कहकर नगर प्रमुख का पुत्र, राक्षस व अन्य सभी भगवान् विष्णु के परमधाम को प्रस्थान कर गये।

इसके पश्चात् नगर प्रमुख ने भी गीता के ग्यारहवें अध्याय का नित्य पाठ कर अंत में मोक्ष पद पाया। भगवान् हरि बोले, 'हे लक्ष्मी! गीता के इस अध्याय का श्रवण करने से सभी प्रकार के पापों का क्षय होता है और जीव परमपद को पाता है।'





बारहवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, हे देवी! जंबूद्वीप के दक्षिण भाग में स्थित कोल्हेपुर मे महामाया का सिद्ध स्थल है। इस स्थल पर अनेक सिद्ध पुरुष भी विचरण किया करते हैं। इस तरह वह स्थल परम पावन व मोक्षप्रद कहलाता है।

एक समय किसी देश का युवराज उस स्थल पर दर्शनो की अभिलाषा मे आया। उसने तीर्थ आदि में पितरो का तर्पण कर महामाया का दर्शन किया और इस प्रकार स्तुति की:

हे देवी! आप ही सृष्टि का पालन व संहार करने वाली हैं। आपकी कृपा से ही ब्रह्मा जी सृष्टि रचते हैं; विष्णु पालन करते हैं व शिव संहार करते हैं, हे देवी। आप ही पराशक्ति हैं। अतः मैं आपकी स्तुति करता हूँ। हे कमला! आप के द्वारा ही मन की उत्पत्ति होती है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि जितनी भी शक्तियाँ हैं, वह आपका ही रूप है। हे देवी! आप, निर्मल, सत्य, नित्य निरामय आदि हैं।

हे देवी! आपकी महिमा को कौन जान सका है। आप ही नाद, ध्वनि बिंदु, कला रूपा हैं। हे देवी! आपको प्रणाम है। आप ही परा, पश्यती वैखरी, मध्यमा है। हे ब्रह्मी! हे वैष्णवी! हे माहेश्वरी! आपको प्रणाम है। हे देवी! आप मुझ पर प्रसन्न होकर मेरे मनोभावों को साकारता प्रदान करें

युवराज की इस विनीत प्रार्थना से प्रसन्न होकर देवी ने उसे दर्शन देकर पूछा, हे नरश्रेष्ठ! तुम्हारी क्या अभिलाषा है? मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। वर मांगो। तब युवराज बोला, हे मातेश्वरी! मेरे पिता एक बार अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे कि अनुष्ठान काल में ही उनकी मृत्यु हो गई। इसी बीच यूप (यज्ञ का खंभ) से बधे अश्व को कोई चुराकर ले गया। अथक प्रयास करके ढूंढा गया लेकिन वह नही मिला। हे देवी! आप ही कोई उपाय बताएँ, जिससे यज्ञ संपन्न हो जाय।

जगत पालनकर्त्री देवी ने कहा, वत्स युवराज! मेरे सिद्ध स्थल के द्वार पर एक सिद्ध पुरुष है, वही तेरी मनोकामना पूर्ण करेगा। तब वह युवराज सिद्ध पुरुष के पास गया और उनके चरणो में प्रणाम कर वहीं मौन होकर रह गया।

युवराज को देखकर सिद्ध पुरुष बोला, 'तुम मातेश्वरी की आज्ञा से मेरे पास आए हो, अतः तुम्हारे कार्य को मैं अवश्य सिद्धि करूँगा।' फिर उस सिद्ध पुरुष ने देखते ही देखते सभी देवताओं का आह्वान किया। तब सभी देवता उपस्थित होकर कहने लगे, 'हे सिद्ध पुरुष! आज्ञा करो।'

तब उस सिद्ध पुरुष ने देवताओं से कहा, तुम लोग युवराज का अश्व लाकर दो, जिसे देवराज मेघ ने चुरा लिया था।

उस सिद्ध पुरुष की आज्ञा पाकर देवताओं ने वह अश्व लाकर युवराज को दे दिया। युवराज ने सिद्ध पुरुष से निवेदन किया, हे महात्मन! मेरी एक और प्रार्थना है। मेरे पिता यज्ञानुष्ठान काल में दिवंगत हो गये थे। मैंने उनका शव लप्त तेल में सुखाकर रखा हुआ है। कृपया आप उन्हे पुनर्जीवित कर दें।

तब सिद्ध पुरुष युवराज के साथ यज्ञस्थल पर गया और उसके पिता के शव पर अभिमंत्रित जल छिड़का। राजा जीवित हो गया और सिद्ध पुरुष से हाथ जोड़कर पूछा, 'हे महात्मन! आप अलौकिक प्रभाव से युक्त कोई सिद्धात्मा हैं। आप बताने की कृपा करें कि आपको किस पुण्य कर्म के कारण इस अलौकिकता की प्राप्ति हुयी है?'

सिद्ध पुरुष ने बताया, हे राजन! सब गीता के बारहवें अध्याय का नित्य पाठ करने का प्रभाव है। उसी के प्रभाव स्वरूप मुझमें भी यह अलौकिकता आई है।

सिद्ध पुरुष से इस प्रकार सुनकर राजा भी गीता के बारहवें अध्याय का नित्य पाठ करने लगा। साथ ही अश्वमेध यज्ञ का भी दायित्व निभाया। गीता के बारहवें अध्याय के प्रभाव से वह भगवान् विष्णु के दिव्यधाम को गया।

■

तेरहवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, 'हे देवी ! अब मैं तुम्हें गीता के तेरहवें अध्याय के महत्त्व से सम्बद्ध एक कथा सुनाता हूँ।

पुरातन काल में किसी नगर में एक ब्राह्मण रहता था। वह वेद-विद्या का ज्ञाता, आत्मनिष्ठ था। उसकी पत्नी विपरीत गुणों से युक्त थी। वह पति की सदैव उपेक्षा करती रहती थी।

एक दिन वह पर पुरुष संग के प्रलोभनवश नगर में इधर-उधर एकांत ओट मे घूमती रही। लेकिन कोई भी कामी पुरुष उसे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अंततः वृक्षो से घिरे एक निर्जन स्थल में एक वृक्ष का आश्रय लेकर लेट गई। तभी एक बघेरा वहाँ आ पहुँचा। उस कुलटा ने समझा कि कोई कामी पुरुष है। इसलिए वह वृक्ष के ठीक सामने आ गयी। लेकिन जैसे ही वह सामने आई बघेरा उस पर झपट पडा।

उस कुलटा ने स्वयं को बचाकर बघेरे से पूछा, ओ बघेरे ! तेरा-मेरा पिछले जन्म का क्या बैर भाव है? किस कारण तू मुझे मार डालना चाहता है?

तब बघेरा बोला तेरा मेरा बैर कुछ भी नहीं है। लेकिन पिछले जन्म में किये गये दुष्कृत्यों की स्मृति के कारण इस जन्म मे मैं दुष्ट स्त्री-पुरुषों का ही भक्षण करता हूँ। अब तुझे बताता हूँ, कैसे?

पिछले जन्म में मैं ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ था। लेकिन वेद, विद्या धर्मकृत्यों के बल पर छल-कपट करते हुए दूसरों का धन हड़पना, दीनों को दुखी करना आदि काम ही किया करता था।

समय के साथ-साथ मेरी आयु भी क्षीण होने लगी। एक विक्षप्त श्वान के काटने पर उसके विष प्रभाव से मेरी मृत्यु हो गयी। मरणोपरांत मैंने बघेरे की योनि पायी। लेकिन पिछले जन्म के दुष्कर्मो का मुझे इस जन्म में भी ज्ञान है जिनके कारण मुझे इस योनि में आना पड़ा।

अब मैं दुष्ट स्त्री-पुरुषों व अन्य जीवों को ही भक्षण किया करता हूँ। तू भी कुलटा है, अतः तुझे भी भक्ष लूँगा। इतना कहकर बघेरा उस पर पुनः झपटा

और देखते--देखते ही उसे लहूलुहान कर मार डाला।

इस प्रकार वह कुलटा स्त्री मरकर यमलोक पहुँची। यमदूतों द्वारा उसे अनेक प्रकार के नरकों में धकेला जाता रहा। पाप भोगने के बाद उसे चांडालिनी की योनि मिली। लेकिन दुष्कर्मों के कारण वह रोगों से ग्रस्त रहने लगी। अतत: वह एक मंदिर पहुँची, जहाँ ब्राह्मण पुजारी नित्य गीता के तेरहवें अध्याय का पाठ किया करता था वह नित्य उसका श्रवण करने लगी।

एक दिन जब वह चडालिनी गीता का पाठ सुन रही थी। तब उसकी मृत्यु हो गई और गीता के तेरहवें अध्याय के प्रभाववश वह इस योनि से मुक्त हो कर दिव्यधाम को प्राप्त हुयी।





चौदहवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, हे लक्ष्मी! अब मैं तुम्हें गीता के चौदहवें अध्याय का महत्त्व बतलाता हूँ। इस अध्याय का नित्य पाठ करने से जीव सांसारिक प्रपंचो से मुक्त होकर मेरे दिव्यधाम में वास करता है। तत्संबंधी एक उपाख्यान का श्रवण करो।

प्राचीन काल की बात है–जम्बू देश के उत्तर भाग में कानपुर नामक एक नगर था वहां वीरभूम नामक राजा राज्य करता था। एक दिन वह आखेट के लिए जगल में गया वहाँ उसने दृश्य देखा कि एक हिरणी तीव्र गति से दौड़ रही थी। और एक बाघ उसके पीछे–पीछे दौड़ रहा था। दोनो ही जीवों को दौड़ते देख राजा आखेट करना भूल गया और उनका कौतुक देखने लगा। हिरणी दौड़ती हुयी एक पोखर में गिर पडी। उसके पीछे दौड़ रहा बाघ भी उस पोखर मे कूद पड़ा। कुछ देर तडपने के बाद दोनों की मृत्यु हो गयी, राजा यह सब देख रहा था। तभी उस पोखर से एक स्त्री व पुरुष निकले। उनको देखकर राजा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

राजा ने उससे पूछा, तुम लोग कौन हो? तब स्त्री (पूर्व जन्म की हिरणी) व पुरुष (बाघ) ने कहा, हे राजन! हमें हमारी देह परिवर्तन का ज्ञान नहीं है कि किस कारण से यह हुआ। हम वही हिरणी व बाघ हैं।

तब वह तीनों एक कुटी के समीप गये, जहाँ एक मुनि तपस्यारत थे जब मुनि की समाधि टूटी तब तीनों ने मुनि को प्रणाम कर आशीर्वाद पाया और देह परिवर्तन का कारण जानना चाहा।

तब मुनि ने राजा को संबोधित करते हुए कहा, राजन! यह स्त्री–पुरुष (हिरणी और बाघ) पिछले जन्म में पति–पत्नी थे। इनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। लेकिन स्त्री (हिरणी) दुष्ट प्रकृति की थी और ब्राह्मण मांसाहारी था। इन्ही दुर्गुणों के कारण इनको पशु योनि प्राप्त हुयी थी।

हे राजन्! पशु योनि में रहते हुए इन्हें परमज्ञान की प्राप्ति तो नहीं हो सकी लेकिन इस पोखर में गिरने से मानव देह प्राप्त हुई है। क्योंकि मैं नित्य गीता के चौदहवें अध्याय का पाठ करता हूँ तथा मेरे गुरु भी इसी अध्याय का पाठ किया

करते थे हम इस पोखर में स्नान करते हैं। जिससे यह जल भी पवित्र हो गया। इसी से इन्हें मानव देह प्राप्त हुयी है।

जब मुनि ने ऐसा कहा तब वह स्त्री–पुरुष पृथ्वी पर निढाल होकर गिर पड़े और देखते ही देखते उनकी मृत्यु हो गयी। फिर दिव्याभूषण धारण कर दिव्य विमान में बैठकर वह परमधाम को प्रस्थान कर गये।

मुनि के वचनों को सुनकर और प्रत्यक्ष घटी घटना को देखकर राजा भी नित्य प्रति गीता के चौदहवें अध्याय का पाठ करने लगा। और अंत में परमपद को प्राप्त हुआ।

पंद्रहवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, हे कमला! अब मैं तुम्हें गीता के पद्रहवें अध्याय का महत्त्व बतलाता हूँ। इस अध्याय के श्रवण मात्र से ही जीव को परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

बहुत समय पूर्व की बात है--जम्बूद्वीप के पूर्वी भाग में बसे गौरव नगर मे कृपा सिंधु नामक राजा राज्य करता था। उसकी सेना का प्रमुख शरभंड था। वह बुद्धिमान होने के साथ--साथ पराक्रमी व कला--निपुण भी था। राज्य पाने की लालसा मे राजा व उसके पुत्र का वध कर शरभंड स्वयं राजा बन बैठा। कुछ समय तक तो शासन करता रहा। लेकिन अचानक एक असाध्य रोग से ग्रस्त होकर वह भी काल का ग्रास बन गया।

अनेक योनियों में पापकृत्यों का फल भोगता हुआ वह कालांतर में सैंधव नगर में अश्व योनि को प्राप्त हुआ। उसमें श्रेष्ठ अश्व के सभी लक्षण विद्यमान थे। एक दिन सैंधव नगर के सेना प्रमुख की दृष्टि उस पर पड़ी तब उसने वह अश्व उसके स्वामी से क्रय कर लिया।

सेना प्रमुख ने उस अश्व को राजा के सामने ला खडा किया। तब राजा ने उस पर सवार होकर दूसरे दिन आखेट पर जाने का विचार बनाया। दूसरे दिन जब राजा उस अश्व के समीप गया तब अश्व ने एकाग्रभाव से उसे देखा और फिर मुँह फेर लिया। राजा को यह रहस्य समझ में नहीं आया। अंततः वह उस पर सवार होकर आखेट के लिए निकल पड़ा।

जंगल में उसे एक मृग मिला। उसने अश्व को मृग के पीछे दौड़ा दिया इस तरह वह राजा बहुत दूर तक निकल गया। राजा को तृष्णा (प्यास) लगी। तब वह अश्व को एक वृक्ष के तने से बांधकर स्वयं जल की खोज मे निकल पड़ा। एक जगह उसे सरोवर दिखायी दिया। उसने जल पीकर अपनी प्यास शांत की और लौट आया।

अभी वह अश्व से कुछ ही दूर था कि उसे एक पत्ता दिखायी दिया, जिस पर गीता के पंद्रहवें अध्याय का आधा श्लोक ही लिखा हुआ था वह उस श्लोक

को पढ़ने लगा। इधर उसका श्वर अश्व के कानो में पड़ा तो अश्व भूमि पर धराशयी हो गया और देखते ही देखते उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

तब राजा को यह सब देखकर घोर आश्चर्य हुआ। निराश होकर वह एक पर्वत शिखर की ओर बढ़ चला। वहॉ उसे एक कुटिया दिखायी पड़ी। कुटिया के समीप जाकर उसने देखा कि एक तेजस्वी तपस्वी वहाँ साधनारत हैं। कुटिया के आस–पास का वातावरण कानन वन जैसा था। राजा कुछ समय तक वहीं टहलता रहा। जब उसने देखा कि तपस्वी साधना पूर्ण कर चुके हैं, तब वह उनके निकट गया और प्रणाम करके अपनी मनोव्यथा उनसे निवेदन की।

तपस्वी आत्मनिष्ठ होने के साथ–साथ त्रिकालदर्शी भी थे। उन्होने राजा से कहा, राजन! वह अश्व शरभंड नामक तुम्हारा सेनाप्रमुख था। राज्य पाने की लालसा में वह तुम्हें और तुम्हारे पुत्र को मारकर स्वयं राजा बन बैठा। कालातर मे उसकी भी मृत्यु हो गयी और अनेक कर्मफलों को भोगकर वह अश्व योनि को प्राप्त हुआ। वही अश्व किसी तरह तुम्हारे पास आ पहुँचा था, जब तुम आखेट के लिए जाने से पूर्व उसके समीप पहुँचे तब उसने तुम्हें एकाग्रभाव से देखा था। तब उसका अभिप्राय था– हे राजन! तुम तो वही हो जिसका मैंने वध किया था। लेकिन जब उसने मुँह फेर लिया तब इसका अभिप्राय यह था। हे राजन! बड़ा आश्चर्य है तुम मुझे पहचान न सके।

तब राजा ने पूछा, 'हे तपोनिष्ठ! वृक्ष के पत्ते पर गीता के पंद्रहवें अध्याय के अर्द्धश्लोक के अंकित होने का रहस्य क्या है?'

तपोनिष्ठ ने बताया, वह मैंने ही लिखा था और अपने शिष्य को कंठाग्र करने के लिए दिया था। लेकिन तेजवायु में उड़कर वह पत्ता वहाँ तक पहुँच गया जहाँ तुम्हारा अश्व बंधा था। उस अर्द्धश्लोक को सुनकर वह अश्व जन्ममरण के बधन से मुक्त हो गया।

राजा ने गीता के पंद्रहवें अध्याय के अर्द्धश्लोक का इतना अधिक महत्त्व जानकर तपोनिष्ठ को प्रणाम किया। और राजमहल में लौट आया फिर अपने पुत्र को राजकाज सौंपकर स्वयं अरण्य मे रहकर इस अध्याय का नित्य पाठ करने लगा इसके प्रभाव से वह भी मुक्त हो गया।

भगवान् हरि बोले, हे लक्ष्मी ! गीता के इस अध्याय का जो प्राणी नित्य पाठ करता है अथवा श्रवण करता है वह भगवान् नारायण के दिव्य धाम का निश्चय ही अधिकारी होता है इसमें संशय नहीं है

सोलहवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, 'हे देवी! जो प्राणी गीता के सोलहवें अध्याय का नित्य पाठ करता है, उसे हिंसक जीवों का कभी भय नही रहता तथा अंतकाल में वह भवबंधन से मुक्त होता है। इस संदर्भ में मैं तुम्हें एक उपाख्यान बतलाता हूँ।

पूर्वकाल की बात है–जम्बूद्वीप में सूरत नामक एक धर्ममय नगर था। उस नगर का राजा खडग भुज स्वयं भी धर्मनिष्ठ, दयालु, अतिथि सेवक था। वैसे तो राजा के यहाँ अश्वशाला, गजशाला में अनेक अश्व व गज थे लेकिन राजा को एक गज विशेष प्रिय था। जिसका नाम था, शत्रुदमन।

एक दिन मदोन्मत्त होकर शत्रुदमन ने गजशाला मे उपद्रव मचा दिया और सारे बंधन तोड़कर नगर में चिघाडता फिरा। जो भी सामने दिखायी पड़ता, उसे ही कुचल देता। इस तरह उसने अनेक उद्यानों को भी तहस–नहस कर डाला तथा नगर की शोभा बढाने वाले वृक्षों को भी उखाड़ डाला। वह गज रक्षकों के भी वश मे न हुआ।

जब राजा को इसकी सूचना मिली तो वह उसे देखने आया। उसके साथ युवराज भी था, जो गजों को वशीभूत करने की कला में पारंगत था। युवराज ने काफी प्रयास किया लेकिन वह उसके भी वशीभूत नहीं हुआ।

इधर नगर में उस गज को देखने के लिए लोगों का समूह उमड़ पड़ा। शत्रुदमन निरंतर चिंघाड़ता हुआ अति पर अति किये जा रहा था।

तभी अकस्मात् एक मुनि निकटवर्ती सरोवर में स्नान करके उधर ही आ निकले। वह सदैव गीता के सोलहवे अध्याय का पाठ किया करते और वह त्रिकालज्ञ भी थे। जब वह मुनि उधर से गुजरने लगे तो भीड़ में से कुछ लोगों ने चिल्लाकर कहा, 'हे मुनिदेव! आप इस मार्ग से आगे न बढे। आगे एक हाथी मदोन्मत्त होकर विनाश करने को तत्पर है कहीं वह आपका भी अनिष्ट न कर दे। अत आपसे निवेदन है कि वापस लौट जाइये।

लेकिन मुनिदेव लोगों की इस चेतावनी की अवहेलना करते हुए उस मार्ग पर आगे बढते जा रहे थे अंतत मुनि का उस गज से सामना हुआ। पहले तो

गज चिंघाड़ा, फिर सबके सामने देखते ही देखते वह सामान्य हो गया और मुनि के चरणों में सूंड़ से प्रणाम करने लगा।

यह सब देखकर राजा व युवराज सहित सभी नगर निवासी चकित रह गये।

जब गज मुनि के चरणों में लोटने लगा तब मुनि ने अपने कमंडल से जल लेकर गीता के सोलहवें अध्याय के –अभयंसत्व संशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितः

· · मंत्र से जल को अभिमंत्रित कर गज पर छिड़का तो वह गजयोनि से छूटकर भगवान हरि के दिव्यधाम को प्रस्थान कर गया।

राजा ने जब ऐसा होते देखा तो वह प्रिय गज की मृत्यु का शोक करना भूलकर मुनि के चरणों में दंडवत् कर पूछने लगा, 'हे मुनिदेव! पिछले जन्म में यह गज कौन था और कैसे आपने उसका उद्धार किया?'

तब मुनि बोले, हे राजन! यह गज पिछले जन्म में मेरा ही शिष्य था। इसको मैंने शास्त्रों का ज्ञान कराया था। बड़ा होकर यह विद्वान् हो गया। एक दिन मैं तीर्थ भ्रमण के लिए प्रस्थान कर गया और आश्रम का दायित्व इसी को सौंप गया था।

तीर्थ भ्रमण करते समय मुझे अधिक समय व्यतीत हो गया। एक दिन मैं पुनः आश्रम में लौटा, तब यह अपने शिष्यों से घिरा बैठा था। मुझे देख लेने के बाद भी इसने न तो उठकर मुझे प्रणाम किया और न ही सत्कार किया। फलस्वरूप मैं भी क्रोधित हो गया और इसे शाप देते हुए कहा, 'अरे मूढ़! ज्ञान गर्व के कारण तेरी मति भ्रष्ट हो गयी है। तू गुरुजनों का आदर–सत्कार भी भूल गया। जा तुझे गज योनि प्राप्त होगी।'

इतना सुनकर यह शाप भय के कारण कंपित हो गया और बार–बार दडवत् प्रणाम करता हुआ बोला, हे गुरुदेव! मुझसे यह भीषण अपराध हुआ है। अब आप ही इस शाप से मुक्ति का कोई उपाय भी बताएँ।

तब मैंने दया भाव के कारण उसे क्षमा कर दिया लेकिन शाप का फल भोगना अति आवश्यक बताया। साथ ही शाप मुक्ति का उपाय बताते हुए मैंने कहा, 'तेरा उद्धार मेरे द्वारा ही होगा।'

मुनि बोले, हे राजन! इसे पिछले जन्म की स्मृति थी। इसके कारण इसने मुझे देखते ही पहचान लिया और मेरे चरणों में लोट गया था। इसको पता था कि इसका उद्धार मेरे द्वारा ही होना है।

राजा ने पूछा, हे मुनिदेव! आपने किस साधन से इसका उद्धार किया?

मुनि बोले 'यह गीता के सोलहवें अध्याय का प्रताप था, जिसके कारण गज को मुक्ति मिली।'

तब राजा भी मुनि से गीता का वह ज्ञान प्राप्त कर राजप्रासाद में लौटा और अपने पुत्र को राजगद्दी का दायित्व सौंपकर अरण्य में तपस्या करने के लिए निकल पड़ा। इस प्रकार वह गीता के सोलहवे अध्याय का नित्य पाठ करता और योग क्रिया भी करता था। फलस्वरूप वह भवबंधन से मुक्त हो गया।



सत्रहवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, 'हे लक्ष्मी! अब तुम गीता के सत्रहवें अध्याय का महत्त्व श्रवण करो। गीता का यह अध्याय अति महत्त्वपूर्ण है।

पूर्वकाल की बात है– कुंदनपुर नगर पर सुबाहु नामक राजा राज्य करता था। वह धार्मिक वृत्ति का, न्यायप्रिय, प्रजापालक था। प्रजा उससे संतुष्ट थी। उस राजा का एक मंदबुद्धि पुत्र था। राजा उसके कारण प्रायः चिंतित रहा करता था।

एक दिन वह राजपुत्र निकटवर्ती नगर में जा पहुँचा और वहाँ के राजा के पुत्र सुधन्वा से बाजी लगा बैठा कि अपने–अपने हाथियों पर सवार होकर दौड लगाई जाए। जो जीतेगा वही उसके राज्य को भोगेगा। संयोगवश मंदबुद्धि दौड के समय हाथी से गिर पडा और घायल होकर लंबी–लंबी साँसें लेने लगा। लेकिन वह हाथी का स्मरण करना नहीं भूला। फलस्वरूप उसको अगली योनि हाथी की मिली।

हाथी के रूप मे वह सिंहभूम के राजा नर सिंधु के यहाँ रहा। एक दिन उस राजा के यहाँ उसका अन्य राजा मित्र आया। राजा ने वह हाथी उपहारस्वरूप उसे दे दिया। नरसिंधु का मित्र हाथी को पाकर बडा प्रसन्न हुआ। उसने वह हाथी अपनी गजशाला मे भिजवा दिया।

गजशाला में रहते हुए हाथी ने खाना पीना सब त्याग दिया। तब महावत राजा को सूचना देने गया। महावत से हाथी की स्थिति की सूचना पाकर नरसिधु उसे देखने गया। इस मध्य हाथी भूखा–प्यासा रहने के कारण कृशकाय हो गया। वह भीषण ज्वर से भी ग्रस्त हो गया।

राजा ने महावतों को गज–चिकित्सकों को बुलाने भेजा ही था कि वह हाथी एकाएक मानव वाणी में बोला, हे राजन! आप भगवान् नारायण के परम भक्त, शत्रु–विजेता, पराक्रमी, राजनीतिक धुरंधर व शास्त्रज्ञाता हैं। मेरा रोग चिकित्सकों द्वारा ठीक नहीं होगा।'

तब राजा ने पूछा हे गज! तुम होई अलौकिक जीव प्रतीत होते हो तुम विगत जन्म मे कौन थे? तुम्हे गजयोनि किस अपराध के कारण मिली है?

हाथी बोला, हे राजन! विगत जन्म में मैं राजपुत्र था। हाथी में मोह होने के कारण ही मुझे गजयोनि की प्राप्ति हुयी है। इस योनि से मुक्ति का एक ही उपाय है। 'यदि मुझे गीता के सत्रहवें अध्याय का पाठ सुनाया जाए ताकि उसी गीता–पाठ से जल को अभिमंत्रित कर मुझ पर छिड़का जाए तो मेरी मुक्ति हो सकती है।'

राजा नरसिंध ने वैसा ही किया। उसनें गीतापाठी विद्वान ब्राह्मण को आमंत्रित किया और गजशाला में उस हाथी के समक्ष गीता पाठ करने से व उस हाथी पर अभिमंत्रित जल छिड़कने से वह हाथी गज योनि से मुक्त होकर चतुर्भुज व दिव्य स्वरूपी हो गया। उसने राजा को संबोधित किया, 'हे राजन! तुम्हारी कृपा के कारण ही मैं दिव्य स्वरूपी होकर परमपद को प्राप्त हुआ हूँ तुम्हारा धन्यवाद !'

राजा ने जब हाथी को गज योनि से मुक्त देखा तब उसे गीता के सत्रहवें अध्याय का महत्त्व समझ में आया। फिर तो उसे राजपाठ से ही वैराग्य हो गया और वह इसके द्वारा परमपद को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार हे लक्ष्मी! वह राजा राजपाठ त्यागकर निर्जन वन में तप करने निकल पड़ा। वह गीता के सत्रहवें अध्याय का पाठ व योग क्रियाएँ करता। जब इस प्रकार जप–तप करते उसे अधिक समय व्यतीत हो गया, तब एक दिन परमात्मा की कृपा और अध्याय के प्रभाववश उसकी मुक्ति हो गयी। गीता का यह अध्याय अनंत महिमा वाला है।

■

अठारहवें अध्याय का महत्त्व

भगवान् हरि बोले, हे लक्ष्मी! अब तक तुमने गीता के सत्रह अध्यायों का महत्त्व श्रवण किया। अब अठारहवें अध्याय का महत्त्व बतलाता हूँ।

हे देवी! श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय का महत्त्व अन्य अध्यायो से सर्वाधिक है। इसका नित्य पाठ करने से सौ अश्वमेध यज्ञ करने का प्रतिफल मिलता है। यह अनंत सुख प्रदाता, शास्त्रों का सार, भवजाल से मुक्त करने वाला, महामुनियों को प्रमुदित करने वाला तथा यमपाश से मुक्त कराने वाला है। इस पाठ का श्रवण करने से ही पापों से छुटकारा मिल जाता है।

अब एक आख्यान बताता हूँ जिससे कि तुम अठारहवें अध्याय का महत्त्व भली प्रकार समझ सकोगी।

एक बार स्वर्गलोक में देवराज इंद्र अपने सिंहासन पर विराजमान होकर अप्सराओं का नृत्य देखकर आनंदित हो रहे थे। सर्वत्र सुख ही सुख व्याप्त था। तभी दूत एक चतुर्भुजी तेजस्वी जीव को लाए। उसकी तेजस्विता के प्रभाववश इन्द्र मूर्च्छित होकर रत्न जड़ित स्वर्णमय सिंहासन से गिर पड़े। जब तक उनकी चेतना लौटी वह श्रीहीन हो चुके थे और उनके स्थान पर वही चतुर्भुजी जीव विराजमान था। इंद्रलोक की अप्सराएँ पूर्ववत नृत्य में लीन थीं। ऋषिसमूह वंदनारत था। देवगण स्तुति गान कर रहे थे।

देवराज इन्द्र ने जब यह दृश्य देखा तो वह आश्चर्य चकित रह गये। अंतत वह देवगुरु बृहस्पति के पास पहुँचे और अपनी यथार्थता से उन्हें अवगत कराया।

तब देवगुरु बोले, हे देवराज! उस जीव ने गीता के अठारहवें अध्याय के पॉच श्लोको का नित्य पाठ करके इस पद को पाया है। अतः जब तक उसके उस पुण्य का क्षय नहीं हो जाता, तब तक उसे ही इस पद पर रहने दें। क्योंकि उसने इस पुण्य के अतिरिक्त कोई भी धर्मकृत्य नहीं किया है।

गीता के अठारहवें अध्याय का महत्त्व जानकर देवराज इन्द्र ने भी इस अध्याय के ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की।

तब देवगुरु बोले, हे देवराज! इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए आपको भूमडल पर जाना पड़ेगा। यह सुनकर देवराज ब्राह्मण के रूप में पृथ्वीमंडल पर आये और किसी अरण्य में एक मुनि के आश्रम में रहकर गीता के अठारहवें अध्याय का पाठ करने लगे।

अंततः इन्द्र बने जीव के पुण्य क्षीण हो गये तब वह पुनः नाना-योनियों में भटकता हुआ पृथ्वीमंडल पर ही आ पहुँचा।

इधर देवराज इन्द्र ब्राह्मण वेश में मुनि के आश्रम में गीता के अठारहवें अध्याय का पाठ करते रहे और अंततः पुनः पद को सुशोभित करने लगे।

श्री हरि बोले, हे लक्ष्मी! शिव जी कह रहे हैं पार्वती जी से कि श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय का सर्वाधिक महत्त्व है।

॥ इति गीतोपनिषद सम्पूर्णम् ॥



गीता गंगामृतम प्रश्नावली

दु	है	ध	स	प	पर	म	य	ख	ख	जय	न्य
न	ह	से	की	मि	द	त	प	तो	तु	क	र
ा	प	र	म्ह	ा	ह	न	त	ज	स	रा	है
वि	स	ब	म	य	म	र	ज	प्र	मु	ब	प्र
है	र	भू	ख	हि	भू	मा	वृ	सु	क	ो	को
न	त	ख	प	क	सु	भु	ख	धि	य	ी	क
हो	दा	अ	ह	तु	ा	स	है	रो	नो	रु	ा
या	का	मि	है	ण	वे	श्ना	री	स	ना	ई	ल
हो	ता	क	जा	प्र	त	सि	ख	र्त्य	ते	स	ल
द	स	दे	अ	ो	म	ब	अ	भ	घ	ब	ह
ढ	ा	हि	तु	भा	क	भ	त	र	त	र	सो
ज	दु	थ	औ	ा	ई	ना	भू	फ	ग	ख	सि
ा	मि	ल	त	अ	द्ध	अ	तो	र	हि	जस	सो
घ	सि	सु	द	श्रा	प	सु	भ	म्ह	खा	ध	घ
प	ा	ा	न	हो	रो	नो	ण	वे	ना	री	री

"प्रश्नकर्ता अपनी वृत्ति को एकत्र कर निज हृदय में प्रभु का ध
नेत्र बन्द करके अपने दाएँ हाथ की तर्जनी उंगली को निम्नलिखि
किसी अक्षर पर रखें। उस अक्षर को लिख कर पुनः आठ को छोड़
नर लिखता जाय। इस प्रकार के अक्षर योग से जो चौपाई निकले उ
प्रश्नकर्ता अपने प्रश्न का फल समझ लें।"

श्री जगदीश जी की आरती

ओऽम जय जगदीश हरे, स्वामी जय जगदीश हरे।
भक्तजनों के संकट, क्षण में दूर करे ॥ ॐ
जो ध्यावे फल पावे, दुःख विनशे मन का।
सुख सम्पत्ति घर आवे, कष्ट मिटे तन का ॥ ॐ
मात पिता तुम मेरे, शरण गहूँ किसकी।
तुम बिन और न दूजा, आस करुँ किसकी ॥ ॐ
तुम पूरण परमात्मा, तुम अन्तर्यामी।
पारब्रह्म परमेश्वर, तुम सबके स्वामी ॥ ॐ
तुम करुणा के सागर, तुम पालन कर्ता।
मैं मूरख खल कामी, कृपा करो भर्ता ॥ ॐ
तुम हो एक अगोचर, सबके प्राणपति।
किस विधि मिलूँ दयामय, तुमको मैं कुमति ॥ ॐ
दीनबंधु दुःख हर्ता, तुम ठाकुर मेरे।
करुणा हस्त बढ़ाओ, द्वार पड़ा तेरे ॥ ॐ
विषय विकार मिटाओ, पाप हरो देवा।
श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ, संतन की सेवा ॥ ॐ
तन, मन, धन सब कुछ है तेरा, स्वामी।
तेरा तुझको अर्पण, क्या लागे मेरा ॥ ॐ
जय जगदीश हरे, स्वामी जय जगदीश हरे।
भक्तजनों के संकट क्षण में दूर करे ॥ ॐ

■